वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ५० अंक ५ मई २०१२
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मई २०१२

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५०
अंक ५

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–
आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–
(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –
वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर - २३, २५०

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

पुरखों की थाती

उत्तमानेव सेवेत प्राप्त-काले तु मध्यमान् ।
अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेद् भूतिमात्मनः ।।५६।।

– जो व्यक्ति अपनी उन्नति चाहता है, उसे उत्तम जनों का ही सेवन करना चाहिये, आवश्यकता पड़ने पर उसे मध्यम श्रेणी के लोगों से भी मिलना चाहिये, परन्तु अधम लोगों का कभी संग नहीं करना चाहिये। (विदुर-नीति)

उत्तमा आत्मना ख्याताः पितुः ख्याताः च मध्यमाः ।
अधमाः मातुलात् ख्याताः श्वशुरात् चाधमाधमाः।।५७।।

– दुनिया के सर्वश्रेष्ठ लोग अपने स्वयं के कर्म से प्रसिद्ध होते हैं, मध्यम या औसत श्रेणी के लोग पिता के नाम से, अधम श्रेणी के लोग मामा के नाम से और निकृष्टतम श्रेणी के लोग अपने ससुर के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त करते हैं।

उत्तमो नातिवक्ता स्यात् अधमो बहुभाषते ।
न काञ्चने ध्वनिस्तादृक् यादृक् कांस्ये प्रजायते ।।५८।।

– स्वर्ण से उतनी आवाज नहीं निकलती, जितनी की काँसे से निकलती है; (वैसे ही) उत्तम लोग बहुत नहीं बोलते, जबकि निकृष्ट लोग निरर्थक ही बहुत बोलते हैं।

उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।
राजद्वारे श्मशाने च यः तिष्ठति स बान्धवः ।।६०।।

– आनन्द में, विपत्ति में, अकाल में, युद्ध में, कचहरी में और श्मशान में जो साथ देता है, वही सच्चा मित्र है।

उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये तथा ।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ।।६१।।

– सूर्य जैसे उदय और अस्त – दोनों समय लाल रंग का ही रहता है, वैसे ही महापुरुष लोग भी अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच मन को एक समान शान्त रखते हैं।

उत्साह सम्पन्नमदीर्घसूत्रं
क्रिया-विधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।
शूरं कृतज्ञं दृढ-सौहृदं च
लक्ष्मीः स्वयं याति निवास-हेतोः ।।६२।।

– उत्साही, शीघ्र कार्य निपटानेवाले, कार्यविधि के ज्ञाता, व्यसनों से रहित, वीर, कृतज्ञ तथा पक्की मित्रता निभानेवाले व्यक्ति के पास निवास करने को लक्ष्मी स्वयं आ जाती हैं।

उत्साहो बलवानार्य नास्त्युसाहात्-परं बलम् ।
सोत्साहस्य हि लोकेषु न किंचिदपि दुर्लभम् ।।६३।।

– हे आर्य, उत्साह ही सबसे प्रबल गुण है। उत्साह से बढ़कर दूसरा कोई बल नहीं होता। उत्साही व्यक्ति के लिये दुनिया की कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं होती।

उदयति यदि भानुः पश्चिमे दिग्विभागे,
विकसति यदि पद्मं पर्वतानां शिखाग्रे ।
प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति बह्निः
न चलति खलु वाक्यं सज्जनानां कदाचित् ।।६४।।

– सम्भव है कि सूर्य पश्चिम दिशा में उदित होने लगे, सम्भव है कि कमल पर्वत के शिखरों पर खिलने लगे, सम्भव है कि मेरु पर्वत अपने स्थान से टल जाय या अग्नि में शीतलता आ जाय, पर सज्जन लोग कभी अपने वचन से नहीं डिगते।

उदारस्य तृणं वित्तं शूरस्य मरणं तृणम् ।
विरक्तस्य तृणं भार्या निःस्पृहस्य तृणं जगत् ।।६५।।

– उदार व्यक्ति के लिए धन-सम्पत्ति तिनके जैसा तुच्छ है, शूरवीर के लिए मृत्यु तुच्छ है, वैरागी के लिए नारी तुच्छ है और कामनाहीन व्यक्ति के लिए सारा जग तृणवत् तुच्छ है।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्त वरान् निबोधत ।।६६।। (कठोप.)

– उठो, जागो, और महापुरुषों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो।

श्रीरामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(मधुवन्ती–कहरवा)

हे रामकृष्ण त्रिभुवन-स्वामी,
युग युग में नव नव रूप लिये,
तुम आते हो अन्तर्यामी।।

अनुराग-त्याग का साज धरे,
इस बार पुनः भू पर उतरे,
प्रज्ञा से प्लावित हो अवनी,
सुख-शान्ति-श्रेयपथ अनुगामी।।

मैं जनम जनम का आराधक,
दृग पथराये राहें तक तक,
प्यासा फिरता हूँ युग-युग से,
तब कृपा-बिन्दु का चिर कामी।।

अब मुझ पर भी करुणा कर दो,
अन्तर में स्नेह-सुधा भर दो,
चरणों में आया हूँ 'विदेह',
भव दूर करो मेरे स्वामी।।

– २ –

(छायानट/केदार–कहरवा)

फिर अवतार लिया प्रभु तुमने,
फिर अवनी पर आये,
अभिनव धर्ममार्ग दिखलाया, जनमानस पर छाये।।

छाया था घनघोर अँधेरा,
तुम आये तो हुआ सबेरा,
उदय हुआ रवि प्राची नभ में, ज्योति फैलती जाये।।

सुनकर बचनामृत का डंका,
भाग चले नास्तिकता शंका,
हो कृतकृत्य निहाल जगत्-जन, मंगल कीरत गाये।।

जीवन में है व्याप्त जटिलता,
जन-मन में दुख और विफलता,
कृपादृष्टि पाकर 'विदेह', सुख-शान्ति सभी ने पाये।।

दैवी आदेश और धर्म-महासभा

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

मेटकाफ, मासाचुसेट्स, २० अगस्त, १८९३ – जापान से मैं वैंकुवर पहुँचा। मुझे प्रशान्त महासागर के उत्तरी हिस्से में होकर जाना पड़ा। कड़ाके की ठण्ड थी। गरम कपड़ों के अभाव में बड़ा कष्ट हुआ। खैर, किसी तरह वैंकुवर पहुँचने के बाद वहाँ से कनाडा पार करके शिकागो पहुँचा। वहाँ करीब बारह दिन रहा। प्राय: प्रतिदिन मेला देखने जाता था। यह एक विराट् आयोजन है ! कम-से-कम दस दिन घूमे बिना पूरा मेला देखना असम्भव था।...

यहाँ बहुत खर्च होता है।... औसतन मेरा एक पौण्ड हर रोज खर्च हो जाता है। यहाँ एक चुरुट का दाम ही हमारे आठ आने हैं। अमेरिकावाले इतने धनी हैं कि वे पानी की तरह रुपये बहाते हैं और उन्होंने कानून बनाकर सब चीजों का दाम इतना अधिक रखा है कि दुनिया की अन्य कोई भी जाति किसी तरह यहाँ पैर नहीं रख पाती। साधारण कुली भी औसतन हर रोज ९-१० रुपये कमाता और इतना ही खर्च करता है। यहाँ आने के पूर्व मैं जो सुनहरे स्वप्न देखा करता था, वे अब टूट चुके हैं। मुझे यहाँ असम्भव परिस्थितियों के बीच संघर्ष करना पड़ रहा है। सैकड़ों बार इच्छा हुई कि यहाँ से चल दूँ, फिर सोचा कि मैं जिद्दी स्वभाव का हूँ और मुझे प्रभु का आदेश भी मिला है। मेरी दृष्टि में रास्ता नहीं दिखायी देता, तो न सही, परन्तु उनकी आँखें तो सब कुछ देख रही हैं। चाहे मरूँ या जीऊँ, अपने उद्देश्य को नहीं छोड़ूँगा।...

मैं इस समय बोस्टन के एक गाँव में एक भद्र-महिला का अतिथि हूँ। मेरी इनसे रेलगाड़ी में अचानक ही पहचान हुई थी। ये मुझे निमंत्रित कर अपने यहाँ लायी हैं। यहाँ पर रहने से मुझे यह सुविधा होती है कि हर रोज जो मेरा एक पौण्ड खर्च हो रहा था, वह बच जाता है; और उनको यह लाभ है कि वे अपने मित्रों को बुलाकर उनको भारत से आया हुआ एक अजीब जानवर दिखा रही हैं !! इन सब यातनाओं को सहना ही पड़ेगा। इस समय मुझे भूख, जाड़ा और अपने अनोखे पहनावे के कारण रास्ता चलनेवालों के कटाक्ष – इन सबके साथ निपटते हुए चलना पड़ता है। प्रिय वत्स, यह निश्चित जानना कि कोई भी बड़ा काम कठिन परिश्रम और कष्ट उठाये बिना नहीं हुआ है।...

यह ईसाइयों का देश है। यहाँ मानो किसी अन्य धर्म या मत के लिये कोई जगह नहीं है। मुझे संसार के किसी भी सम्प्रदाय की शत्रुता का भय नहीं। मैं तो यहाँ मेरीसुत ईसा की सन्तानों के बीच रहता हूँ। प्रभु ईसा ही मुझे सहारा देंगे। एक बात मैं देख पाता हूँ कि ये लोग हिन्दू धर्म के उदार मत और नाज़रथ के अवतार पर मेरा प्रेम देखकर बहुत ही आकृष्ट हो रहे हैं। इनसे मैं कहता हूँ कि मुझे उस गैलीली के महापुरुष के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहना है; बस, जैसे आप ईसा को मानते हैं, वैसे ही साथ में भारतीय महापुरुषों को मानना चाहिए। यह बात वे आदरपूर्वक सुन रहे हैं।...

जाड़े का मौसम आ रहा है। मुझे सब प्रकार के गरम कपड़े की आवश्यकता होगी; और हम लोगों को यहाँ के लोगों की अपेक्षा अधिक कपड़ों की जरूरत होती है।...

शिकागो में अभी हाल में एक बड़ा तमाशा हो चुका है। कपूरथला के महाराजा यहाँ पधारे थे और शिकागो समाज का कुछ भाग उन्हें आसमान पर चढ़ा रहा था। मेले के परिसर में मेरी राजा के साथ भेंट हुई थी, परन्तु वे तो अमीर आदमी ठहरे – मुझ फकीर के साथ बातचीत क्यों करने लगे? उधर एक पागल-सा, धोती पहने हुए महाराष्ट्रीय ब्राह्मण, मेले में कागज पर कीलों के सहारे बनी हुई तस्वीरें बेच रहा था। उसने अखबारों के संवाददाताओं से उस राजा के विरुद्ध बहुत-सी बातें कह दी थीं। उसने कहा था कि यह आदमी बड़ी नीच जाति का है और ये राजा लोग गुलाम-जैसे स्वभाव वाले और दुराचारी होते हैं, आदि आदि। यहाँ के तथाकथित सत्यवादी सम्पादकों ने, जिनके लिए अमेरिका मशहूर है, इस व्यक्ति की बातों को महत्त्व देते हुए अगले दिन के अखबारों में बड़े-बड़े स्तम्भ निकाल दिये, जिसमें उन्होंने

भारत से आये हुए एक ज्ञानी पुरुष का – अर्थात् मेरा वर्णन किया और मेरी प्रशंसा के पुल बाँधकर मेरे मुँह से ऐसी-ऐसी बातें निकाल डालीं, जिनको मैंने स्वप्न में भी कभी नहीं सोचा था; अन्त में उन्होंने, उस महाराष्ट्रीय ब्राह्मण द्वारा राजा के बारे में कही हुई सारी बातों को मेरे ही मुख से निकला हुआ बता दिया। इससे शिकागो समाज ने तुरन्त राजा को त्याग दिया।... इन (तथाकथित) सत्यवादी सम्पादकों ने मेरे द्वारा ही मेरे एक स्वदेशी को अच्छी चोट पहुँचायी। इससे यह भी प्रकट होता है कि इस देश में धन या खिताबों की चमक-दमक की अपेक्षा बुद्धि की कदर अधिक है।

कल स्त्री-कैदखाने की व्यवस्थापिका श्रीमती जॉनसन यहाँ पधारी थीं। यहाँ 'कैदखाना' नहीं, बल्कि 'सुधार-शाला' कहते हैं। मैंने अमेरिका में जो-जो बातें देखी हैं, उनमें से यह एक बड़ी आश्चर्यजनक वस्तु है। कैदियों से कैसा सहृदय बर्ताव किया जाता है, कैसे उनका चरित्र सुधर जाता है और वे लौटकर फिर कैसे समाज के आवश्यक अंग बनते हैं – ये सब बातें इतनी अद्भुत और सुन्दर हैं कि तुम्हें बिना देखे विश्वास नहीं होगा। यह सब देखकर जब मैंने अपने देश की दशा सोची, तो मेरे प्राण बेचैन हो गये। भारतवर्ष में हम लोग गरीबों को, साधारण लोगों को, पतितों को क्या समझा करते हैं! उनके लिए न कोई उपाय है, न बचने की राह, और न उन्नति के लिए कोई मार्ग ही है। भारत के गरीबों का, भारत के पतितों का, भारत के पापियों का – कोई भी साथी नहीं, कोई भी सहायक नहीं, वे चाहे जितनी भी कोशिश क्यों न करें, उनकी उन्नति का कोई उपाय नहीं। वे दिन-पर-दिन डूबते जा रहे हैं। राक्षस-जैसा नृशंस समाज उन पर जो लगातार चोटें कर रहा है, उसका अनुभव तो वे खूब कर रहे हैं, पर वे जानते नहीं कि वे चोटें कहाँ से आ रही हैं। वे भूल गये हैं कि वे भी मनुष्य हैं। इसका फल हुआ – दासता और पशुता। विचारशील लोग कुछ समय से समाज की यह दुर्दशा समझ गये हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश, वे इसका सारा दोष हिन्दू धर्म के सिर पर मढ़ रहे हैं। वे सोचते हैं कि दुनिया के इस सर्वश्रेष्ठ धर्म का नाश ही समाज की उन्नति का एकमात्र उपाय है। सुनो मित्र, प्रभु की कृपा से मुझे इसका रहस्य मालूम हो गया है। दोष धर्म का नहीं है। इसके विपरीत तुम्हारा धर्म तो तुम्हें यही सिखाता है कि संसार भर के सभी प्राणी तुम्हारी ही आत्मा के विविध रूप हैं। समाज की इस हीन अवस्था का कारण है इस तत्त्व को व्यावहारिक आचरण में न लाना, सहानुभूति का अभाव, हृदय का अभाव। प्रभु तुम्हारे पास बुद्धरूप में आये और तुम्हें गरीबों, दु:खियों और पापियों के लिए आँसू बहाना और उनसे सहानुभूति करना सिखाया, परन्तु तुमने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया।...

बालाजी और जी. जी. को उस दिन की बात याद होगी, जब शाम को पाण्डीचेरी में एक पण्डित से समुद्र-यात्रा के विषय पर हमारा वाद-विवाद हुआ था। उसके चेहरे की विकट बनावट और उसकी 'कदापि न' (हरगिज नहीं) यह बात मुझे सदैव याद रहेगी। इनकी अज्ञता की गहराई देखकर चकित रह जाना पड़ता है। वे जानते नहीं कि भारतवर्ष दुनिया का एक छोटा-सा हिस्सा है और सारा जगत् इन तीस करोड़ लोगों को बड़ी घृणा से देखता है। वह देखता है कि ये लोग मानो कीड़ों की तरह भारत के रमणीक क्षेत्र पर रेंग रहे हैं और एक दूसरे पर अत्याचार करने की कोशिश कर रहे हैं। समाज की यह दशा दूर करनी होगी – परन्तु धर्म का नाश करके नहीं, वरन् हिन्दू धर्म के महान् उपदेशों का अपना कर और उसके साथ बौद्ध धर्म की अपूर्व सहृदयता को जोड़कर, जो हिन्दू धर्म का स्वाभाविक विकास मात्र है।...

मैं बारह वर्षों तक हृदय में यह बोझ लादे और सिर पर यह विचार लिए बहुत-से तथाकथित धनिकों और अमीरों के दर-दर घूमा, परन्तु उन्होंने मुझे केवल ठग समझा। हृदय का रक्त बहाते हुए मैं आधी पृथ्वी का चक्कर लगाकर इस विचित्र देश में सहायता माँगने आया।... ईश्वर महान् हैं। मैं जानता हूँ कि वे मेरी सहायता करेंगे। मैं इस देश में भूख या जाड़े से भले ही मर जाऊँ, परन्तु मद्रासी युवको! मैं गरीब, मूर्खों और उत्पीड़ितों के प्रति इस सहानुभूति और प्राणपण प्रयत्न को – तुम्हें थाती के तौर पर अर्पित करता हूँ।...

यह एक दिन का काम नहीं और रास्ता भी भयंकर काँटों से भरा हुआ है।... तो भी हम अनन्त ज्योति:स्वरूप भगवान के बच्चे हैं। प्रभु की जय हो, हम अवश्य सफल होंगे। सैकड़ों लोग इसमें प्राण खोते रहेंगे, पर सैकड़ों पुन: उनकी जगह खड़े हो जायँगे। प्रभु की जय हो! सम्भव है कि मैं यहाँ विफल होकर मर जाऊँ, परन्तु यह काम कोई और जारी रखेगा।... विश्वास, सहानुभूति – दृढ़ विश्वास और ज्वलन्त सहानुभूति चाहिए। प्रभु की जय हो। जीवन तुच्छ है, मरण भी तुच्छ है, भूख तुच्छ है और जाड़ा भी तुच्छ है। जय प्रभु! आगे बढ़ते रहो – प्रभु हमारे नायक हैं। पीछे मत देखो कौन गिरा – इसकी खबर मत लो – आगे बढ़ो, सामने चलो। भाइयो, इसी तरह हम आगे बढ़ते जाएँगे – एक गिरेगा, तो उसकी जगह दूसरा खड़ा हो जाएगा।...

बोस्टन में जाकर पहले तो मुझे कुछ कपड़े खरीदने हैं। क्योंकि यदि मुझे वहाँ अधिक दिन ठहरना पड़ा, तो मेरी इस अनोखी पोशाक से काम नहीं चलेगा। रास्ते में मुझे देखने के लिए खासी भीड़ लग जाती है। इसलिए मुझे काले रंग का एक लम्बा कोट बनवाना पड़ेगा, सिर्फ व्याख्यान देने के लिए एक गेरुआ पहनावा और पगड़ी रखूँगा।...

कनाडा की बात छोड़ दें, तो अमेरिका की रेलगाड़ियों में अलग-अलग दर्जे नहीं हैं। अत: मुझे पहले दर्जे में यात्रा

करनी पड़ी, क्योंकि उसके सिवा दूसरा कोई दर्जा ही नहीं है। परन्तु मैं 'पुलमैन' नामक अत्युत्तम गाड़ियों में चढ़ने का साहस नहीं करता हूँ। उनमें आराम खूब है – खान-पान, नींद यहाँ तक कि स्नान का भी प्रबन्ध रहता है – मानो तुम किसी होटल में हो, पर उनमें खर्चा बेहिसाब है।

यहाँ समाज के भीतर घुसकर लोगों को सिखाना बड़ा कठिन काम है। विशेषकर इस समय कोई भी शहर में नहीं है। गर्मी का मौसम होने के कारण सभी लोग ठण्डे स्थानों में चले गये हैं। जाड़े में फिर सब शहर में आयेंगे, तभी मैं उनसे मिल सकूँगा। इसलिए मुझे यहाँ कुछ दिन ठहरना होगा। इतने प्रयत्न के बाद मैं तत्काल इस कार्य को छोड़ना नहीं चाहता। तुम लोग, जितना भी सम्भव हो, मेरी मदद करो, बस। यदि तुम मदद न भी कर सको, तो मैं ही अन्त तक कोशिश कर देखूँगा। यदि मैं यहाँ रोग, जाड़े या भूख से मर जाऊँ, तो तुम लोग इस कार्य में अपना जी-जान लगा देना। पवित्रता, सरलता और विश्वास चाहिए। मैं जहाँ भी रहूँ, मेरे नाम पर जो कोई पत्र या रुपये आयें, उनको मेरे पास भेजने के लिए मैंने कुक कम्पनी से कह दिया है। 'रोम एक ही दिन में तो बना नहीं।' यदि तुम रुपया भेजकर मुझे कम-से-कम छह महीने यहाँ रख सको, तो आशा है कि सब ठीक हो जायेगा। इस बीच मेरे पास जो भी सहायता आयेगी, उसका सहारा लेने का भरसक कोशिश करता रहूँगा। यदि मैं अपने निर्वाह के लिए कोई उपाय ढूँढ़ सकूँ, तो तुम्हें तुरन्त तार कर दूँगा।

पहले मैं अमेरिका में प्रयत्न करूँगा; यहाँ विफल होने पर इंग्लैंड में। यदि वहाँ भी सफल न होऊँ, तो भारत लौट आऊँगा तथा ईश्वर के अगले आदेश की प्रतीक्षा करूँगा।[१८]

इन पाश्चात्य देशों में आनेवाला मैं पहला संन्यासी हूँ। संसार के इतिहास में यह पहला अवसर है, जब एक हिन्दू संन्यासी ने समुद्र पार किया है।[१९]

जब मैं अमेरिका जा रहा था – सात समुद्र पार, बिना किसी परिचय-पत्र के, बिना किसी जान-पहचान के, एक धनहीन, मित्रहीन, अज्ञात संन्यासी के रूप में – तब मैंने थियोसॉफिकल सोसायटी के नेता से भेंट की। स्वभावत: मैंने सोचा था कि जब ये अमेरिकावासी और भारतभक्त हैं, तो सम्भवत: अमेरिका के किसी सज्जन के नाम मुझे एक परिचय-पत्र दे देंगे। परन्तु जब मैंने उनके पास जाकर इस प्रकार के परिचय-पत्र के लिए प्रार्थना की, तो उन्होंने पूछा, "क्या आप हमारी सोसायटी के सदस्य बनेंगे?" मैंने उत्तर दिया, "नहीं, मैं किस प्रकार आपकी सोसायटी का सदस्य हो सकता हूँ? मैं तो आपके अधिकांश सिद्धान्तों पर विश्वास ही नहीं करता।" उन्होंने कहा, "तब मुझे खेद है, मैं आपके लिए कुछ भी नहीं कर सकता।" खैर, मैं अपने कुछ मद्रासी मित्रों की सहायता से अमेरिका गया।... धर्म-महासभा शुरू होने के कई महीने पूर्व ही मैं अमेरिका पहुँच गया। मेरे पास रुपये बहुत कम थे और वे शीघ्र ही समाप्त हो गये। इधर जाड़ा भी आ गया और मेरे पास सिर्फ गरमी के कपड़े थे। उस घोर शीतप्रधान देश में मैं आखिर क्या करूँ, यह कुछ सूझता न था। यदि मैं मार्ग में भीख माँगने लगता, तो परिणाम यह होता कि मैं जेल भेज दिया जाता। उस समय मेरे पास केवल कुछ ही डॉलर बचे थे।

मैंने अपने मद्रासवासी मित्रों के पास तार भेजा। यह बात थियोसॉफिस्टों को ज्ञात हो गयी और उसमें से एक ने लिखा, "अब शैतान शीघ्र ही मर जायगा; ईश्वर की कृपा से अच्छा ही हुआ। बला टली!" क्या यह मेरे लिए रास्ता बना देना था? मैं ये बातें इस समय कहना नहीं चाहता था, किन्तु मेरे देशवासी यह सब जानने के इच्छुक हैं, इसलिये कहनी पड़ी। पिछले तीन वर्षों से मैंने इस विषय में एक शब्द भी नहीं कहा। मौन रहना ही मेरा मूलमंत्र रहा, पर आज ये बातें निकल पड़ीं। पर बात यहीं पर पूरी नहीं हो जाती। मैंने धर्म-महासभा में कई थियोसॉफिस्टों को देखा। मैंने उनसे बातचीत करने और मिलने-जुलने की चेष्टा की। उन लोगों ने जिस अवज्ञा भरी दृष्टि से मेरी ओर देखा, वह आज भी मेरी आँखों के सामने नाच रही है – वह मानो कह रही थी, "कहाँ का यह क्षुद्र कीड़ा, हम देवताओं के बीच आ टपका!"[२०]

यह बात विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य है कि सभी देशों और समाजों में एक ही प्रकार के आदर्श तथा आचार नहीं चलते। इस विषय की हमारी अज्ञानता ही एक देश की दूसरे के प्रति घृणा का मुख्य कारण है। अमेरिकावासी समझता है कि उसी के देश की प्रथाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं, अत: जो कोई उसकी प्रथाओं के अनुसार नहीं चलता, वह दुष्ट है। इसी प्रकार हिन्दू सोचता है कि केवल उसी के रीति-रिवाज सही और सारे संसार में सर्वोत्तम हैं; और जो उनका पालन नहीं करता, वह महादुष्ट है। हम सहज ही इस भ्रम में पड़ जाते हैं और ऐसा होना बहुत स्वाभाविक भी है। परन्तु यह बहुत हानिकर है; यही संसार में एक-दूसरे के प्रति असहानुभूति और आपसी घृणा का यह प्रधान कारण है। मुझे स्मरण है कि जब मैं इस देश (अमेरिका) में आया और जब शिकागो-प्रदर्शनी में से होकर जा रहा था, तो किसी व्यक्ति ने पीछे से मेरा साफा खींचा। मैंने पीछे मुड़कर देखा, तो एक बड़े सम्भ्रान्त जैसे सज्जन दिखायी पड़े। मैंने उनसे बातचीत की और जब उन्हें पता चला कि मैं अंग्रेजी भी जानता हूँ, तो वे बड़े शर्मिन्दा हुए। इसी प्रकार, उसी मेले में एक अन्य समय एक व्यक्ति ने मुझे धक्का दे दिया; जब मैंने पीछे मुड़कर उससे कारण पूछा, तो वह भी बड़ा लज्जित हुआ और हकलाकर मुझसे माफी माँगते हुए कहने लगा, "आप ऐसी

पोशाक क्यों पहनते हैं?'' इन लोगों की सहानुभूति बस अपनी ही भाषा और पोशाक तक सीमित थी। शक्तिशाली जातियाँ दुर्बल जातियों पर जो अत्याचार करती हैं, उसका अधिकांश इसी दुर्भावना के कारण होता है। यह मानव-मात्र के प्रति मानव के बन्धुभाव को सोख लेता है। मुझसे मेरी पोशाक के बारे में पूछनेवाला और मेरी पोशाक के कारण ही मेरे साथ दुर्व्यवहार करने का इच्छुक वह व्यक्ति सम्भव है कि एक भला आदमी रहा हो, एक सन्तान-वत्सल पिता और एक सभ्य नागरिक रहा हो; परन्तु उसकी स्वाभाविक सहृदयता का उसी क्षण अन्त हो गया, जब उसने मुझे अपने से किसी भिन्न देश की पोशाक में देखा।

सभी देशों में विदेशियों का शोषण होता है, क्योंकि वे यह नहीं जानते कि परदेश में अपने को कैसे बचायें। इस कारण वे उन देश के निवासियों के बारे में भ्रान्त धारणाएँ साथ लेकर स्वदेश लौटते हैं। नाववाले, सिपाही और व्यापारी दूसरे देशों में ऐसे विचित्र व्यवहार किया करते हैं, जैसा अपने देश में करना वे सपने में भी नहीं सोच सकते। शायद यही कारण है कि चीनी लोग यूरोप और अमेरिकावासियों को 'विदेशी शैतान' कहा करते हैं। पर यदि उन्हें पश्चिमी देश की सज्जनता तथा उसकी नम्रता का भी अनुभव हुआ होता, तो वे शायद ऐसा न कहते।[२१]

(बोस्टन में) एक बार मैं एक अजनबी के रूप में एक अज्ञात स्थान में जा पहुँचा था। मेरा कोट ऐसा ही लाल रंग का था और मैंने एक पगड़ी पहन रखी थी। मैं नगर के एक व्यस्त इलाके से होकर सड़क पर चल रहा था, तभी मुझे बोध हुआ कि बहुत-से मनुष्य और लड़के मेरा पीछा कर रहे हैं। मेरे द्वारा अपनी चाल बढ़ाने पर, उन लोगों ने भी वैसा ही किया। तभी मेरे कन्धे पर किसी चीज से प्रहार किया गया और मैं दौड़ने लगा। एक कोने पर पहुँचकर मैं एक अँधेरी गली में घुस गया और पूरी भीड़ मेरा पीछा करती हुई आगे निकल गयी। मैं सुरक्षित बच गया![२२]

तब में इस देश के रीति-रिवाजों से अपरिचित था। एक बार जब एक बड़े सुसंस्कृत परिवार के लड़के ने अपनी माता का नाम लेकर पुकारा, तो मेरे हृदय को बड़ा धक्का लगा। बाद में मुझे इसका अभ्यास हो गया। यह इस देश का रिवाज है। किन्तु हम लोग अपने माता-पिता का नाम तक उनके सामने नहीं ले सकते।[२३]

मैं उस संन्यासी-सम्प्रदाय का हूँ, जो काफी-कुछ आपके रोमन कैथोलिक चर्च के अकिंचन साधुओं के जैसा है; अर्थात् हम बगैर कपड़े-लत्तों की परवाह किये भ्रमण करते रहते हैं; द्वार-द्वार भिक्षा माँगकर गुजारा करते हैं; लोगों के माँगने पर उपदेश देते हैं; और जहाँ भी जगह मिले, सो जाते हैं। हमें इसी प्रकार जीवन निर्वाह करना पड़ता है। नियम यह है कि इस सम्प्रदाय के लोग प्रत्येक स्त्री को 'माँ' कहकर पुकारें। प्रत्येक स्त्री को ही क्यों, हमें तो छोटी बच्ची तक 'माँ' ही कहकर पुकारना पड़ता है; यही रीति है। पाश्चात्य देशों में आने पर भी वही संस्कार बना रहा। जब मैं स्त्रियों से कहता, ''हाँ, माता!'' तो वे दहल उठती थीं। पहले तो मैं समझ ही नहीं सका कि उनके इस प्रकार आतंकित होने का क्या कारण है! बाद में मुझे इसका कारण पता चला कि इसका अर्थ यह हुआ कि वे वृद्धा हैं।[२४]

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१८. विवेकानन्द साहित्य, प्रथम सं., खण्ड १, पृ. ४००-०७; **१९.** वही, खण्ड १, पृ. २७७; **२०.** वही, खण्ड ५, पृ. १०४; **२१.** वही, खण्ड ३, पृ. ३९-४०; **२२.** Reminiscences of Swami Vivekananda, 3rd Ed., p. 263-64; **२३.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ३१९; **२४.** वही, खण्ड १, पृ. ३११

चार तरह के मनोभाव वाले लोग

पामर – जिन्हें लगता है कि 'मैं पतित हूँ'' और 'दुनिया के सारे लोग पतित हैं', वे पामर कहलाते है। ऐसे लोग हर चीज को अश्रद्धा तथा शंका की दृष्टि से देखते हैं। सन्त-महापुरुषों को पाखण्डी समझते हैं और अपने कुकृत्यों में वैसे ही अहंकार पालते हैं, जैसे कौआ गू खाकर भी अपने बड़ा सयाना मानता है।

विषयी – जो लोग समझते हैं कि 'मैं अच्छा हूँ, श्रेष्ठ हूँ' और 'दुनिया के बाकी सारे लोग पतित हैं', उन्हें विषयी कहते है। हम थोड़ा ध्यान से देखें तो पायेंगे कि संसार में अधिकांश लोग अपना तो गुणगान करते रहते हैं, पर बाकी सभी लोगों के खोट निकालते और निन्दा करते रहते हैं। ये अपनी तुच्छ उपलब्धियों के अहंकार में उन्मत्त रहते हैं।

साधक – जो सोचता है कि 'मैं ही बुरा हूँ, पतित हूँ' पर 'दुनिया के सारे लोग अच्छे हैं', वह सच्चा साधक है। श्रीमाँ सारदा देवी कहती हैं – यदि शान्ति चाहते हो, तो किसी के दोष मत देखना। दोष देखना अपने स्वयं का। सारी दुनिया को अपना बना लो।

सिद्ध – जो देखता है कि ''मैं भी अच्छा हूँ और दुनिया के सारे लोग भी अच्छे हैं', वह सिद्ध-पुरुष है। जिस व्यक्ति के मनश्चक्षुओं के समक्ष यह सारी सृष्टि – विश्व-ब्रह्माण्ड ही ब्रह्म का विलास, जगदम्बा की लीला, परमात्मा का खेल दीख पड़ता है, ऐसे तत्त्वज्ञानी महात्मा अति दुर्लभ हैं – **स महात्मा सुदुर्लभः**।

– *संकलित*

साधना, शरणागति और कृपा (१/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(निम्नलिखित प्रवचन पण्डितजी द्वारा रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में ३१ जनवरी से ५ फरवरी १९९४ ई. तक सम्पन्न हुआ था। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ इसे टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

श्रद्धेय स्वामी सत्यरूपानन्दजी महाराज और समुपस्थित सन्त-मण्डली के चरणों में मैं सादर प्रणाम करता हूँ। भक्ति-भावना से प्रेरित श्रोतृवृन्द का भी बारम्बार अभिनन्दन करता हूँ। श्रद्धेय स्वामीजी ने कहा कि मैं कृपापूर्वक आता हूँ, तो यह बिल्कुल सही है, मैं कृपापूर्वक ही आता हूँ, क्योंकि मेरे पास कृपा छोड़कर अन्य कुछ है ही नहीं और वह कृपा भी मेरी नहीं, प्रभु की है। मेरे जीवन में तो केवल कृपा की ही अनुभूति है, जो प्रारम्भ से निरन्तर बनी रहती है। वह कृपा भी किसी साधना के परिणामस्वरूप नहीं है।

छत्तीसगढ़ से अवश्य मेरा कुछ प्रारब्धजन्य संयोग होगा, क्योंकि यहाँ मेरे प्रवचन का यह पचासवाँ वर्ष है। पचास वर्ष पहले, छत्तीसगढ़ में मैं सबसे पहले रायपुर में ही आया, पर वक्ता के रूप में नहीं आया था। मैं अपने पूज्य पिताजी के साथ गर्मी की छुट्टियाँ बिताने आया था। मैं वाराणसी में संस्कृत का अध्ययन कर रहा था, अवकाश के समय यहाँ आ गया था। पिताजी रामभक्त थे, रामकथा के वक्ता थे। यहाँ कुछ अधिकारियों के यहाँ उनका प्रवचन था। वहाँ भी मैंने भाग लिया। यहाँ तो मैं श्रोता के रूप में आया था और बिलासपुर पहुँचते-पहुँचते वक्ता भी बन गया। मेरा सबसे पहला प्रवचन बिलासपुर में हुआ। कैसे हुआ? क्या हुआ? वह एक लम्बी गाथा है, बड़ी अद्‌भुत बात है। मेरे मन में न कोई संकल्प था, न कोई योजना थी, न कोई कल्पना थी कि मुझे वक्ता बनना है। मेरी धारणा तो इसके विपरीत ही थी। इसीलिये छत्तीसगढ़ मेरे लिये इतने महत्त्व की भूमि है कि यहीं से सबसे पहले मेरी प्रवचन-यात्रा प्रारम्भ हुई। यहाँ से मुँगेली, पंडारिया, पाड़ातराई, कवर्धा, दुर्ग – वह पहली यात्रा थी, जिसमें एक व्यक्ति, जिसकी आयु बहुत थोड़ी थी, जिसके मन में कोई संकल्प नहीं था, उसे प्रभु ने वक्ता बनाकर बोलने के लिए प्रेरित कर दिया। मेरे जीवन की सारी अनुभूति केवल कृपा-ही-कृपा से ओतप्रोत है, इसमें मुझे कहीं रंचमात्र सन्देह नहीं है। इस रायपुर की भूमि में आप सब श्रोताओं का प्रेम उत्कृष्ट होते हुए भी, इस आश्रम का आकर्षण मेरे मन में बहुत अधिक है। मुझे स्मरण आता है, कुछ वर्ष पहले प्रेमचन्दजी जैस ने एक पत्र लिखा था। उनसे कोई परिचय तो नहीं था, पर उनके सुन्दर अक्षर देखकर मैं बड़ा प्रभावित हुआ। मैंने कहा कि जिनका यह स्नेहपूर्ण पत्र है, अक्षर इतने सुन्दर हैं, क्यों न उनसे मिल लिया जाय! उन दिनों उमाशंकर हमारे साथ थे। उन्होंने बुला लिया। मैं तब बृजराज नगर के गेस्ट हाऊस में ठहरा हुआ था। वे वहाँ अचानक आ पहुँचे। उनसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और मैंने उनका निमंत्रण स्वीकार कर लिया।

यहाँ आया। उन्हें देखकर मुझे नहीं लगा था कि वे इतने विस्तार से कार्यक्रम कर सकेंगे। पर जब यहाँ आया, तो इसी आश्रम-भूमि में, जो भवन अब वाचनालय के रूप में प्रयुक्त होता है, वहीं पर प्रवचन रखा गया। ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी महाराज उन दिनों यहाँ नहीं थे। वे यात्रा पर गये हुए थे। वह सत्र केवल चार दिनों का ही था, पर अच्छा लगा। स्वामीजी न थे, तो मुझे कुछ अच्छा ही लगा। बड़ा विचित्र लगता है। पर मुझे संकोच यह था कि कहीं मत की भिन्नता के कारण उन्हें कोई कष्ट न हो। कुछ ऐसा न हो कि जिससे उन्हें लगे कि मैं कोई सिद्धान्त-विरुद्ध बात कह रहा हूँ, तो एक तरह से स्वस्ति की साँस ली कि रायपुर में नहीं हैं, तो अच्छा ही है। लेकिन उनके गुणों के बारे में क्या कहा जाय! बाद में उन्होंने टेप से कथा सुनी और स्वयं ही मुझे पत्र लिखा। फिर तो एक प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित हुआ और वह निरन्तर बढ़ता ही गया। तो वस्तुतः ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी महाराज के सम्पर्क से एक ऐसे प्रगाढ़ सम्बन्ध की भावना बनीं, जो मुझे मुख्य रूप से प्रेरित करती है। आप लोगों को मैं प्रथम नहीं, द्वितीय स्थान ही दूँगा। फिर जब उनका तिरोभाव हुआ, तो मेरे मन में एक बार फिर थोड़ी-सी हिचकिचाहट आई। पर फिर मुझे स्नेहपूर्वक बुलाया गया और मैंने देखा कि मिशन की यह विशेषता है कि यहाँ जिस चरित्र का, जीवन का और चिन्तन का निर्माण होता है, वह अन्य स्थानों से भिन्न होता है। प्रसन्नता हुई।

यहाँ आकर मैं अत्यधिक आनन्द की अनुभूति करता हूँ। यहाँ केवल देने का ही नहीं, पाने का भी अनुभव होता है। मेरे ऊपर और आप लोगों पर भी कृपा है कि हम लोग सन्तों से मिलते हैं। कृपा को छोड़कर और कुछ नहीं है। इस कृपा

को हम निरन्तर अनुभव करें। इस कृपा के द्वारा ही हम धन्य हो सकते हैं। कथा मेरे लिए कोई प्रवचन का विषय नहीं है, यह तो हमारे हृदय का, श्वास-प्रश्वास का अनुभव है।

आपके समक्ष महाराज मनु के चरित्र में साधना और भगवद्दर्शन का प्रसंग प्रस्तुत किया गया। महाराज मनु मानव -जाति के आदि-पुरुष हैं। उनके जीवन का, व्यक्तित्व का जिस प्रकार विकास हुआ और जिस रूप में उसकी परिणति हुई, यह प्रसंग उसी का परिचायक है। पहली कक्षा कर्तव्य-कर्म और धर्म ही है। उसके बाद मनु के अन्त:करण में भगवद्दर्शन की तीव्र आकांक्षा उदित होती है। वे वन में जाते हैं, तीर्थयात्रा करते हैं, सत्संग करते हैं, कथा श्रवण करते हैं और उसके बाद मंत्रजप में तल्लीन हो जाते हैं। वे ऐसी कठोर तपस्या करते हैं कि व्यक्ति पढ़-सुनकर ही आतंकित हो जाय। परन्तु इतना होते हुए भी उनके अन्त:करण की सगुण-साकार दर्शन की इच्छा पूरी नहीं हुई। ईश्वर कैसे मिलता है – इसका ज्ञान किसी व्यक्ति को नहीं है।

इस सम्पूर्ण प्रकृति में कुछ नियम हैं और भौतिक-विज्ञान उन नियमों को पता लगाने की चेष्टा करता है। आज के युग में जो भौतिक उन्नति हुई है, वह प्रकृति के नियमों के ज्ञान से ही हुई है। वैज्ञानिकों ने प्रकृति को देखा, ग्रह-नक्षत्रों को देखा और उनका गहराई से अध्ययन किया। भौतिक-विज्ञान में गणित का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऐसे भी वैज्ञानिक हुए हैं, जिन्होंने केवल गणित के माध्यम से ही सृष्टि के रहस्य को हल करने की चेष्टा की। गणित में जो कुछ है, वह निश्चित है। गणित का एक नियम है और गणित शुद्ध उसी रूप में नियम के अनुकूल है। जिस प्रकृति में हमारा आपका जीवन है, उसमें वह नियम विद्यमान है। सूर्य में, चन्द्रमा में, ग्रह में, नक्षत्र में, तारों में जो प्रकृति के नियम हैं, उन्हें जिस व्यक्ति ने ठीक-ठीक जान लिया, वह प्रकृति को अपनी दिशा में लाने की चेष्टा करता है। आकाश में बिजली न जाने कब से चमक रही है, लेकिन किसी वैज्ञानिक ने यह पता लगाने की चेष्टा की कि यह बिजली कैसे चमकती है, उसके नियम का ज्ञान हो गया, तो आज उस नियम के फलस्वरूप वह विद्युत्-शक्ति घरों में और सर्वत्र प्रकाश कर रही है। भौतिक-विज्ञान का इसीलिए बड़ा महत्त्व है कि प्रकृति के नियमों का पालन जानना, पहचानना, पता लगाना और उसका अधिक-से-अधिक लाभ हम कैसे लें – इसकी चेष्टा भौतिकी-वैज्ञानिक ने की है; परन्तु भगवान के विषय में एक बड़ी अनोखी बात कही जाती है – वे प्रकृति से परे, सदा सबके हृदय में बसनेवाले हैं –

प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी ।। ७/७२/७

ईश्वर प्रकृति में रहकर भी उसके परे हैं। तो समस्या कहाँ आती है? भौतिक-विज्ञान हर चीज के नियम में देखने का आदी है। गणित उसके ज्ञान का मुख्य आधार है, पर ईश्वर कोई गणित नहीं मानता, उसका कोई नियम नहीं। वह अपने आप में पूरी तरह स्वतंत्र है। इसीलिए वह 'प्रकृति-पार' है।

इसको अनेक तरह से बड़े भावनात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है कि जब भगवान श्रीराम प्रगट होते हैं, तो विश्व में, भारतवर्ष में, अयोध्या में, महाराज दशरथ के भवन में, कौशल्या अम्बा के गर्भ से उनका जन्म होता है। नियम तो सर्वत्र दिखाई दे रहा है। ऐसा नहीं हुआ कि भगवान राम सहसा कौशल्या अम्बा के सामने प्रगट हो गये। यज्ञ हुआ, उसके बाद कौशल्या अम्बा के गर्भ में आए; और जैसे हर बालक गर्भ में नौ-दस महीने तक रहता है, वैसे ही भगवान भी कौशल्या अम्बा के गर्भ में रहे। प्रकृति के सारे नियम तो दिखाई दे रहे हैं। पिता-माता के माध्यम से जन्म होता है, तो पिता-माता से जन्म हुआ। बालक गर्भ में आता है, तो वे गर्भ में भी आए। नौ-दस महीने बाद जन्म होता है, तो उनका भी वैसे ही जन्म हुआ। यदि हम सगुण-साकार ईश्वर के विषय में विचार करेंगे, तो वह भी प्रकृति के नियमों के अन्तर्गत ही अपने को व्यक्त करता हुआ दिखाई देगा।

ईश्वर को प्रकृति में लाने की चेष्टा का क्या अभिप्राय है? जब वह प्रकृति के परे है, निर्गुण है, निराकार है, अव्यक्त है, अज है, तो ऐसे ब्रह्म को जब हम प्रकृति में लाने की चेष्टा करेंगे; जब वह साकार होगा, तो उसका कोई-न-कोई रूप होगा, कोई-न-कोई नाम होगा; सगुण होगा, तो वह कहीं-न-कहीं, किसी देश में, किसी काल में जन्म लेगा। प्रकृति की सीमा में आने के बाद उस पर प्रकृति के नियम लागू होंगे या नहीं? यह एक बड़ी जटिल स्थिति है। प्रकृति के साथ समस्या यह है कि रूप, नाम आदि जो एकदेशीय हैं, वे तो अनित्य ही होंगे। फिर ऐसी स्थिति में अवतारवाद एक बड़ा विलक्षण प्रश्न लिए हुए है। इसीलिए अनेक लोगों को अवतारवाद स्वीकार करना ठीक नहीं लगता। सती प्राचीन काल में उन तार्किकों में हैं, जो नहीं मानती कि ब्रह्म अवतार ले सकता है। उन्होंने कहा – जो ब्रह्म सर्वव्यापी, मायारहित, अजन्मा, अगोचर, इच्छारहित और भेदरहित है और जिसे वेद भी नहीं जानते, क्या वह देह धारण करके नर हो सकता है?

ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद ।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद ।। १/५०

निर्गुण-निराकार सगुण-साकार कैसे होगा? यहाँ मनु के प्रसंग में भी इसका उत्तर देने की चेष्टा की गई है।

श्रीराम, श्रीकृष्ण या भगवान श्रीरामकृष्ण – जब हम इन के जीवन पर दृष्टि डालेंगे, तो उनमें अनेक घटनाएँ ऐसी मिलेंगी, जो प्रकृति के नियम के अनुकूल ही प्रतीत होंगी। पर उनमें जो अलौकिकता के प्रसंग हैं, वे बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इस अलौकिकता को आप लौकिक नियमों के साँचे में ढालने

की चेष्टा न करें। समस्या तब आवेगी, जब आप विज्ञान के फ्रेम में किसी अवतार का चित्र लगाने का प्रयास करेंगे। आपके पास जितना बड़ा फ्रेम है, उसी में उस चित्र को आना चाहिए। चाहे हाथ कटे या पैर कटे, या आसपास कटे, पर उसी फ्रेम के भीतर आ जाय। इस अलौकिकता का एक उद्देश्य है। यदि हमने उसका अभिप्राय नहीं समझा और हर भक्त अपनी बुद्धिमत्ता से उन्हें लौकिक नियमों के अनुकूल सिद्ध करने की चेष्टा करे, तो अनर्थ हो जायेगा। तब अध्यात्म-विज्ञान भौतिक-विज्ञान का अनुगामी बन जायगा।

भगवान कृष्ण तथा अन्य अवतारों के चरित्र में अनगिनत अलौकिकताएँ मिलती हैं। श्रीराम के चरित्र में भी एक बड़े महत्त्व की घटना वर्णित हुई है। गोस्वामीजी कहते हैं – चैत्र शुक्ल-पक्ष में नवमी को दोपहर में भगवान का जन्म हुआ –

नौमी तिथि मधु मास पुनीता।
सुकल पच्छ अभिजित हरिप्रीता।।
मध्यदिवस अति सीत न घामा।
पावन काल लोक बिश्रामा।। १/१९१/१-२

ठीक है, हर बालक का किसी-न-किसी दिन जन्म होता है, पर एक अलौकिकता सामने आ गई। यदि आप प्रकृति में कोई चमत्कार देखते हैं, तो वह आपकी बाध्यता है। उसे देखे बिना आप रह नहीं सकते। जब आप स्वयं को देखना चाहते हैं, तो उपाय तो यह है कि आप स्वयं को अपनी आँख से देखें और दूसरा उपाय यह है कि अपने सामने एक दर्पण रख लें। अब विचार करके देखें कि शीशे में जो दिखाई दे रहा है, उसे आप क्या मानेंगे। यदि आप यह मानें कि जितना बड़ा दर्पण है, उतना ही बड़ा व्यक्ति है, तब तो बड़ी समस्या यह आ जायेगी कि जो जितना बड़ा हो, उनको देखने के लिए उतना ही बड़ा दर्पण चाहिए। जब हम दर्पण में देखते हैं, तो हमारी लाचारी यह है कि हम स्वयं को पूरी तौर से नहीं देख पाते। दर्पण तो सदा सीमित ही होगा।

रामायण में एक बड़ा भावनात्मक प्रसंग है। उस समय भारत में जो सर्वश्रेष्ठ वक्ता और भक्त थे, जितने महापुरुष थे, वे सब चित्रकूट में एकत्र हो गये। अयोध्या-काण्ड में जितने भाषण हुए हैं, उतने सम्पूर्ण रामायण में अन्यत्र कहीं भी नहीं हुए। हर वक्ता की एक अपनी शैली होती है, अलग-अलग विशेषता होती है। प्रत्येक वक्ता की वाणी में कोई-न-कोई कमी होती है। परन्तु भगवान राम की वाणी सारे दोषों से रहित है, बल्कि वे तो वक्तृत्व को ही आभूषित करते हैं –

बोले बचन बिगत सब दूषन।
मृदु मंजुल जनु बाग बिभूषन।। २/४०/६

चित्रकूट में जब श्री रघुनाथ बोले, तो सत्य-सरल और कोमल वाणी बोले –

सुनि रघुनाथ जोरि जुग पानी।
बोले सत्य सरल मृदु बानी।। २/२९६/६

भगवान राम की वाणी सत्य है, सरल है, मृदु है। गुरु वशिष्ठ जब बोलते हैं, वह भाषण समय के अनुकूल, समाज के अनुकूल और धर्म के अनुकूल होता है –

समय समाज धरम अबिरोधा।
बोले तब रघुबंस पुरोधा।। २/२९५/३

परन्तु जब श्रीभरत बोलने के लिए खड़े हुए, तब तक किसी को पता ही नहीं था कि श्री भरत वक्ता भी हैं। आज तक श्रीभरत एक शीलवान, संकोची और प्राय: मौन रहनेवाले व्यक्ति के रूप में ही जाने जाते थे, वक्ता के रूप में नहीं। पर अयोध्या की सभा में उनका वक्तृत्व सामने आया और अब चित्रकूट में बोले। गोस्वामीजी से कहा गया – सबकी वक्तृता की विशेषता तो आपने बता दी, भरतजी के भाषण के बारे में तो कुछ कहिए। इस पर गोस्वामीजी ने बड़ी विचित्र बात कही। आपने 'घमाघम' वाला सूत्र सुना होगा। किसी ने ज्योतिषीजी से पूछा – इस बार वर्षा कैसी होगी? बोले 'घमाघम'। वर्षा नहीं हुई। लोगों ने शिकायत की। बोले – मैंने तो कहा था 'घमाघम' – घाम-ही-घाम रहेगा, यानी धूप-ही-धूप रहेगी। जब बहुत वर्षा हो गई, तो बोले – मैंने तो कहा ही था कि वर्षा 'घमाघम' होगी। तो लोग दोनों अर्थ प्रगट करने वाला वाक्य कह देते हैं। गोस्वामीजी से पूछा गया – भरतजी की वाणी कैसी है? बोले – शब्द तो थोड़े होते हैं, परन्तु उनका अर्थ असीम होता है –

सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे।
अरथु अमित अति आखर थोरे।। २/२९३/२

भरतजी के वचन सुगम और भगवान राम का भाषण भी सुगम है। पर भरतजी का सुगम के साथ-साथ अगम भी है। और फिर – बड़े कोमल है और बड़े कठोर हैं। – यह आप क्या पहेली बुझा रहे हैं? कठोर भी है मृदु भी है, सुगम भी है अगम भी है – सब कुछ है। बात समझ में नहीं आ रही है, भरतजी का भाषण क्या है? गोस्वामीजी को बड़ा ही सुन्दर दर्पण का दृष्टान्त याद आ गया। आपने अपने अंगों को दर्पण में देख रहे हैं – प्रत्येक अंग सामने है। अब यदि आपको लगे कि मेरा तो पूरा अंग-प्रत्यंग इस दर्पण में आ गया; और आप दर्पण में दिखाई देनेवाले कान को पकड़ने की चेष्टा करें, तो क्या होगा? निराशा ही हाथ लगेगी –

ज्यों मुखु मुकुर मुकुरु निज पानी।
गहि न जाइ अस अदभुत बानी।। २/२९४/३

जैसे दर्पण में दिखाई देनेवाला मुख कभी पकड़ में नहीं आता, वैसे ही भरत की भी न पकड़ में आनेवाली वाणी है। अपने कान पकड़ने का उपाय यह नहीं है कि दर्पण में दिखाई

देनेवाले कान को पकड़ने का प्रयास करें। अपना कान पकड़ लें, तो दर्पण में कान पकड़ा हुआ दिखाई देगा। इसका अभिप्राय यह है कि लोग जब भरत की वाणी का अर्थ भरत में ढूँढ़ते हैं, तो असफल होते हैं। भरत तो राम के प्रतिबिम्ब हैं, इसलिए उसका अर्थ तो भरत में नहीं, श्रीराम में है।

यह एक बड़ा व्यापक प्रसंग है। जब हम निर्गुण-निराकार ईश्वर को स्वयं में देखते हैं, प्रकृति में देखते हैं, तो उसमें हमारी एक सीमा है। हमारी लाचारी है। यदि वह असीम भी है, अनादि भी है, अनन्त भी है, तो हमारे सामने ये केवल शब्द-ही-शब्द हैं। हमें उसकी कोई अनुभूति नहीं होती। पर निराकार को साकार बनाना – इसका अर्थ यह नहीं कि वह बँध जाता है। वह स्वयं को ऐसा प्रदर्शित करता है कि हम उसे देख सकें। गीता में भगवान कहते हैं – जो लोग समझते हैं कि मेरा जन्म हुआ, वे मुझे ठीक-ठीक नहीं जानते। रामायण में भी कौशल्या अम्बा के प्रसंग में आपको दो शब्द मिलेंगे। एक है कि भगवान राम का जन्म हुआ और ऐसा भी कहा गया कि भगवान राम प्रगट हो गये –

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला
कौसल्या हितकारी ।। १/१९१

दूसरी जगह बोले – श्रीराम-जन्म के अनेक कारण हैं –

राम जन्म के हेतु अनेका ।। १/१२२/१

एक ओर राम जन्म, और दूसरी ओर – वह अवसर आ गया, जिसमें प्रभु को प्रकट होना था –

जेहिं प्रभु प्रगट सो अवसर भयऊ ।। १/१९०/८

जन्म हुआ और प्रगट हुए – इन दोनों में भेद तो होगा ही ! प्रगट होने का अर्थ हुआ – वह वस्तु थी और दिखाई नहीं दे रही थी; और जन्म होने का अर्थ है कि पहले नहीं था, बाद में उसका जन्म हुआ। तो उनका जन्म हुआ या वे प्रगट हुए? प्राकट्य का अर्थ यह है कि उसे हम अपनी शारीरिक सीमाओं में भी देख सकते हैं। तो ब्रह्म क्या सचमुच गर्भ में ही सिमट गया? जैसे छोटा-सा भ्रूण गर्भ में आता है, क्या भगवान भी वैसे ही आकर बढ़े? कौशल्या अम्बा को तो लगा कि इस समय मेरे गर्भ में पुत्र का निर्माण हो रहा है –

जा दिन तें हरि गर्भहिं आए ।। १/१८९/६

'आए' शब्द का भी प्रयोग हुआ। तो ब्रह्म कहाँ था, जो वहाँ गर्भ में आया? वह न तो कहीं आता है, न कहीं जाता है। पर कौशल्या अम्बा को लगा कि मेरे गर्भ में बालक आ गया है और नौ या दस महीने बाद उसका जन्म होगा। तो हमारा हर वस्तु को प्रकृति के नियमों के अन्तर्गत देखने का अभ्यास है, इसीलिए हम भगवान को भी उसी रूप में देखने की चेष्टा करते हैं। पर इसके साथ गोस्वामीजी ने अलौकिकता का भी संकेत दिया है कि जन्म लेने के साथ-साथ भगवान एक वरदान दे चुके हैं, सतरूपाजी ने कहा था कि आप जब बालक के रूप में जन्म लें, तो कृपा करके यह वरदान दीजिए कि मेरा विवेक बना रहे। भगवान ने यही किया भी –

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी ।।
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी।
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी ।।
१/१९१

प्रभु माँ को वह विवेक देना चाहते हैं, इसीलिये वे दिव्य चतुर्भुज रूप में कौशल्या अम्बा के सामने प्रगट हुए। बोले – तुमने विवेक की याचना की थी, इसीलिए मैंने जानबूझकर तुम्हें चतुर्भुज-रूप का दर्शन कराया। परन्तु अभी तुम मुझे शिशु के रूप में पाकर वात्सल्य का आनन्द प्राप्त करो।

कौशल्या अम्बा नित्य पूजन किया करती थीं। एक दिन पूजन करते हुए उन्हें लगा कि बालक जागता रहेगा, तो पूजा में बाधा पड़ेगी। बच्चे होने से कथा में थोड़ी बाधा होती है, पूजा में भी बाधा होती है। मुझे तो स्मरण है कि मैं जोधपुर गया, तो कहा गया कि बच्चों को न लाया करें। स्वामी आत्मानन्द जी तो नित्य ही आग्रहपूर्वक कहते और कठोर रूप में भी कह देते थे। मैंने विनम्रता से कहा कि बच्चों को नहीं लाना चाहिए, तो एक सज्जन खड़े हो गये। बोले – वाह, बच्चे तो भगवान के रूप हैं; और आप कह रहे हैं – बच्चों को नहीं लाना चाहिए ! मैंने कहा – भगवान हैं, इसीलिए तो उन्हें कथा सुनने की आवश्यकता नहीं है। वे भगवान हैं, इसलिये उन्हें आनन्द से सुला दीजिए।

कौशल्या अम्बा ने सोचा कि मैं बच्चे को गोद में रखूँगी तो पूजा कैसे करूँगी, इसलिये बालक को पहले सुला दें। सुला दिया। बालक गहरी नींद में सो गया। माँ प्रसन्न हो गयीं। बच्चा सो गया, अब पूजा में बाधा नहीं पड़ेगी। पूजा में उन्होंने भगवान को नैवेद्य का भोग लगाया। परदा कर दिया। थोड़ी देर बाद जब परदे को हटाया, तो देखती हैं कि वही बालक आनन्द से भोग लगा रहा है। माँ को बड़ा आश्चर्य हुआ। यह तो बड़ा अनर्थ हो गया। पूजा में बाधा पड़ गई। मैंने देवता के लिये जो नैवेद्य अर्पित किया, उसे मेरे बच्चे ने जूठा कर दिया। वे भूल गईं कि पूजा में बाधा नहीं पड़ी, बल्कि भगवान पूजा का फल दे रहे हैं। पूजा तो लाखों -करोड़ों लोग नित्य करते हैं, पर आज तो भगवान स्वयं उस नैवेद्य का रसास्वादन कर रहे हैं। माँ विचार करने लगीं – बच्चा इतना छोटा है, वह यहाँ आया कैसे? अभी-अभी तो मैं उसे सुला कर आयी थी, अब यह क्या हुआ? उठीं और वहाँ जाकर देखा तो बालक गहरी नींद में सोया हुआ है। फिर यहाँ आईं, तो देखा बालक बैठा हुआ भोग लगा रहा है। यहाँ भी है और वहाँ भी –

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा ।
मति भ्रम मोर कि आन बिसेषा ।। १/२००/७

क्या मैं पागल हो गई हूँ? क्या मेरी बुद्धि में कोई भ्रम हो गया है? एक ही रूप के दो बालक भला कैसे हो सकते हैं?

भगवान ने जो दर्शन कराया, यह एक बड़ा दार्शनिक प्रसंग है। मनोरंजन-प्रियता कभी-कभी इन तात्त्विक प्रसंगों का चिन्तन करने से रोक देती है। वक्ता भी सोचता है कि यह क्या बात कही जा रही है? क्या भगवान कोई जादू दिखा रहे हैं? क्या कोई इन्द्रजाल दिखा रहे हैं? परन्तु अवतार-तत्त्व की यही तो व्याख्या है। माँ जब उसे अपनी गोद में लेती है, तो ईश्वर उसकी गोदी में आ गया है, सीमा में दिखाई दे रहा है। ठीक ही है। आनन्द लेने के लिये तो उसे सीमा में ही लाना होगा। जब हम किसी नदी का जल पीते हैं, तो पूरी नदी को उठाकर थोड़े ही पी जाते है। आपके पास जो बर्तन है, जो चुल्लू है, उसी में लेकर पीते हैं। प्रभु भी यही बताना चाहते थे कि पूजा के रस के साथ-साथ इस सत्य को तुम्हें नहीं भूलना है। फिर इस तत्त्व को स्पष्ट करने के लिए भगवान ने तीसरा रूप दिखाया। एक रूप में वे सो रहे हैं, दूसरे रूप में भोग लगा रहे हैं और उसके बाद आप पढ़ते हैं – भगवान ने अपना अखण्ड रूप दिखाया –

देखरावा मातहि निज अदभुत रूप अखंड ।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड ।। १/२०१

खण्डित व्यक्ति यदि उसे खण्ड में देखे, तो यह उसकी बाध्यता है, पर ब्रह्म तो वस्तुतः सर्वदा अखण्ड ही है। इसीलिए यहाँ भी है, वहाँ भी है, वही सो रहा है, वही जाग रहा है, वही भोक्ता है, वही अभोक्ता है। इस प्रकार भगवान विराट् तत्त्व का ज्ञान कराकर मानो यह संकेत देना चाहते हैं कि तुम रस की उपलब्धि के लिए मुझे बालक के रूप में स्वीकार करो, बालक के रूप मुझसे लाड़ लड़ाओ, सब कुछ करो, पर इस सत्य को मत भूलो कि इस खण्ड रूप में दिखाई देने पर भी, मैं तत्त्वतः निरन्तर अखण्ड ही हूँ। और उन्होंने माँ को अपने सारे रूप दिखाये –

अगनित रबि ससि सिव चतुरानन ।
बहु गिरि सरित सिन्धु महि कानन ।।
काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ ।
सोउ देखा जो सुना न काऊ ।।

देखी माया सब बिधि गाढ़ी
अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी ।। १/२०२/१-३

भगवान के विराट् रूप का दर्शन करते हुए उन्होंने देखा कि वह माया जो सबको बाँधने वाली है, वह वहाँ खड़ी है –

देखा जीव नचावइ जाही ।
देखी भगति जो छोरइ ताही ।। १/२०२/४

जो पूरे ब्रह्माण्ड का पिता है, मैंने उसे पुत्र मान लिया। एक ओर माया दूसरी ओर भक्ति ! वे स्तुति करने लगीं –

अस्तुति करि न जाइ भय माना ।
जगत पिता मैं सुत करि जाना । १/२०२/७

प्रभु ने माँ की स्तुति सुन ली और बोले – माँ, पहले तो तुमने मुझसे भक्ति-विवेक माँगा था। अब मैं तुमसे कुछ माँगने जा रहा हूँ। – तुम मुझसे माँग रहे हो? क्या? – जो तुमने देखा और समझा, उसे किसी दूसरे को न बताना –

यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई ।। १/२०२/८

अन्यथा लोग या तो तुम्हें पागल समझ लेंगे, या मुझे। बालक के रूप में मुझे जिस रस की सृष्टि करनी है, व्यक्ति उसका आनन्द नहीं ले सकेगा।

इसके बाद ऐसा खेल कर दिया कि माँ भूल गईं। उनको गोद में लेकर लाड़-दुलार करने लगी। फिर दूध पिलाने में देर हो गई, तो प्रभु रूठ भी गये। तो भगवान का सगुण-साकार रूप स्वयं को भक्तों की भावना और इच्छा को परिपूर्ण करने के लिये व्यक्त करता है। यह वाक्य महाराज मनु ने भी कहा, कि मैं जानता हूँ कि वह ब्रह्म कैसा है –

अगुन अखंड अनंत अनादी ।
जेहि चिंतहिं परमारथबादी ।।
नेति नेति जेहि बेद निरूपा ।
निजानंद निरुपाधि अनूपा ।।
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई ।
भगत हेतु लीलातनु गहई ।। १/१४४/४-५,७

– जो निर्गुण, अखण्ड, अनन्त और अनादि हैं और परमार्थवादी (वेदान्ती) लोग जिनका चिन्तन किया करते हैं; वेद जिनका 'नेति-नेति' (यह नहीं, यह नहीं) कहकर निरूपण करते हैं; जो आनन्दस्वरूप, उपाधिरहित और अनुपम हैं; ऐसे महान् प्रभु भी सेवक के वश में हैं और भक्तों के लिए दिव्य लीला विग्रह धारण किया करते हैं। ❖ (क्रमशः) ❖
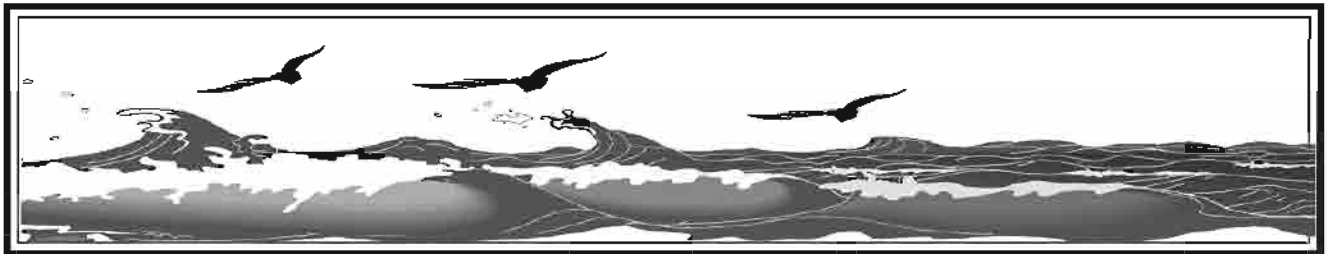
जीवन जीने की कला

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

सुकरात कहते हैं कि हममें से अधिकांश लोग जीते तो हैं, पर जीने की कला नहीं जानते। इसलिए हरदम दुखी बने रहते हैं। जो व्यक्ति जीवन-कला जानता है, वही यथार्थ में जीवन का आनन्द उठाने में समर्थ होता है।

पूछा जा सकता है कि जीने की भी क्या कोई कला होती है? इसका उत्तर है – हाँ। वह कला ही जीवन को जीने योग्य बनाती है। कला के अभाव में मनुष्य सहज प्रवृत्ति के अनुसार चलने वाला पशु हो जाता है। नीतिकार ने कलाविहीन मनुष्य को सींग और पूँछ से हीन पशु मात्र कहा है। पशु के जीवन में कोई कला नहीं होती, वह सहज प्रवृत्ति से परिचालित होता है। जैसे एक कुत्ते ने एक बच्चे की भेड़िये से रक्षा की। परन्तु इस कारण कोई कुत्ते के प्रति कृतज्ञ होकर उसे माला नहीं पहनाता। कारण यह है कि कुत्ते का यह व्यवहार उसकी बुद्धि के कारण नहीं है, बल्कि महज instinct या सहज प्रकृति के कारण है। और जीवन-कला बुद्धि से परिचालित होती है, 'इंसटिंक्ट' से नहीं।

मनुष्य जीवन-कला न जानने के कारण अपने को दुखी बना लेता है। इसके कई उदाहरण दिये जा सकते हैं, परन्तु यहाँ पर एक ही पर्याप्त होगा।

मेरे एक मित्र भारतीय प्रशासनिक सेवा में उच्च पदस्थ अधिकारी हैं। बड़े ईमानदार और कर्मठ हैं। पर जीवन-कला की ओर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया, इसलिए मुँहफट हो गये हैं। ईमानदार व्यक्ति कुछ रुखा-सा हो जाता है। सत्य बोलनेवाले लोग अक्सर क्रोधी दिखते हैं। मेरे ये मित्र भी नियम-कानून के बड़े पक्के हैं और कहीं भी झुकना पसन्द नहीं करते। फलस्वरूप जब लोग उन्हें पीठ पीछे कोसते रहते हैं और जब यह बात उनके कान में आती है, तो वे निराश हो जाते हैं। ऐसी परिस्थितियों में से हरदम गुजरने के कारण वे तनाव और स्नायुदौर्बल्य के शिकार हो गये हैं। जैसे कोई व्यक्ति अपना काम लेकर उनके पास आया। वे एकदम उस पर बरस पड़ते हैं और बोल उठते हैं कि काम नहीं होगा। बाद में भले ही वे उस व्यक्ति का काम कर देते हैं, पर उन्होंने प्रारम्भ में ही उस व्यक्ति को तो विरोधी बना ही लिया। काम हो जाने पर भी वह व्यक्ति यह नहीं सोचेगा कि साहब के कारण काम बना, क्योंकि साहब ने तो उसे दुत्कार ही दिया था। मैंने उन्हें सुझाव दिया कि जब भी कोई व्यक्ति अपना काम लेकर उनके पास आवे, तो वे खीझें नहीं, दुत्कारें नहीं, बल्कि सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए आगन्तुक को समझा दें कि काम इन-इन कारणों से वैसा होना कठिन है, पर मैं अपनी ओर से आपको मदद देने की भरसक कोशिश करूँगा। मनुष्य दो मीठे बोल ही सुनना चाहता है। जीवन-कला का यह एक पक्ष है।

उसका दूसरा पक्ष है, किसी भी आकस्मिकता के लिए तैयार रहना, यह अच्छी तरह समझ लेना कि दुनिया का गणित हमारी मर्जी के अनुसार नहीं चला करता। जब तक चलता दिखाई देता है, तो उसे हम भगवत्कृपा के रूप में स्वीकारें। और जहाँ वह गणित हमारे लिए गड्डमड्ड हो जाय, वहाँ हताश या निराश न होकर उस परिस्थिति से जूझने का मनोबल ईश्वर की प्रार्थना में प्राप्त करने की चेष्टा करें। वस्तुत: प्रतिकूल परिस्थितियाँ ही मनुष्य की सच्ची कसौटी होती है। हमें अनुभव करना होगा कि अनुकूलता और प्रतिकूलता जीवन का ताना-बाना है। हमारी ऐसी अनुभूति प्रतिकूलता के क्षणों में हमारे कदमों को डगमगाने से बचाएगी।

जीवन-कला का तीसरा पक्ष है - दोष-दर्शन की वृत्ति को रचनात्मक बनाना तथा अभ्यास के द्वारा अपने भीतर गुण-दर्शन की वृत्ति पैदा करना। दोष-दर्शन हमारे स्वभाव में ही रूढ़ है; और बहुधा वह विनाशात्मक हुआ करता है। हम चटकारें लेकर दूसरों के दोषों का स्वाद लेते हैं और सबको बाँटते रहते हैं। यह हमें बड़ी हानि पहुँचाता है। दोष-दर्शन की इस वृत्ति को हमें रचनात्मक बनाने की चेष्टा करनी चाहिए – जैसे चिकित्सक मरीज का दोष देखता है; और देखता ही नहीं, बल्कि यंत्रों से उसे बढ़ा-चढ़ाकर देखता है। परन्तु उसके पीछे उसकी भावना मरीज के दोष को दूर करने की होती है। इसे रचनात्मक या विधायक दोष-दर्शन कहते हैं। इसे साधने के लिए हमें अपने भीतर गुण-दर्शन की वृत्ति पैदा करनी चाहिए। यह हमारे स्वभाव में नहीं है। इस वृत्ति को ज्ञानपूर्वक अभ्यास से उत्पन्न करना होता है। किसी में मुझे चट से दोष ही दिखेगा, यह स्वाभाविक है। परन्तु ज्योंही यह दोष-दर्शन की वृत्ति मुझमें जागे, मुझे उस व्यक्ति के गुणों को देखने की कोशिश करनी चाहिए। ऐसा कोई मनुष्य न होगा, जिसमें दोष-ही-दोष हों और गुण न हों।

जीवन-कला के ये तीन पक्ष हमारा जीवन भीतरी दृष्टि से समृद्ध करते हैं और अपने जीवन को सार्थक बनाने में हमारी मदद करते हैं। ❑ ❑ ❑

प्रताप चन्द्र हाजरा

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और उनके अनुरागी बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी पहली मुलाकातों का वर्णन किया है। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

उसका नाम न जटिला था न कुटिला,[१] तथापि श्रीरामकृष्ण के पास आनेवाले भक्त उसे उसी नाम से पुकारते, क्योंकि उसे देखकर उन्हें श्री राधारानी की लीला के इन दो प्रसिद्ध पौराणिक पात्रों की याद आ जाती थी। वह व्यक्ति था प्रताप चन्द्र हाजरा। वह सामान्य कद का था और उसका दृष्टिकोण, रूप-रंग और आचरण – सब रूखे थे। उसके स्वभाव में धार्मिकता तथा विद्वेष का विचित्र सम्मिश्रण था।

एक दिन श्रीरामकृष्ण ने प्रताप से पूछा, "अच्छा बताओ, यहाँ आनेवालों के विषय में तुम्हारा क्या विचार है? किसमें कितना कितना सत्त्व है?"

प्रताप – नरेन्द्र में सौ प्रतिशत है और मुझमें एक सौ दस प्रतिशत।

श्रीरामकृष्ण – और मुझमें?

प्रताप – आपमें अभी भी रजस् के कुछ कण हैं। मैं तो कहूँगा, आप में सिर्फ पचहत्तर प्रतिशत होगा।

इन बातों को सुन सभी लोग खिलखिला कर हँस पड़े।

श्रीरामकृष्ण के पास आनेवालों में शायद ही कोई प्रताप के जैसा रहा होगा, जो हर बात पर नुक्ताचीनी और कटाक्ष करने को तैयार बैठा रहता था। श्रीरामकृष्ण के दैवी व्यक्तित्व के इर्दगिर्द विकसित होनेवाले सुरीले परिवेश के बीच उसकी उपस्थिति बेसुरी लगती। अपनी तीखी जुबान और बेतुके व्यवहार के कारण कई लोगों को प्रताप एक मजेदार व्यक्ति लगता। श्रीरामकृष्ण के एक जीवनीकार ने लिखा है, "जैसे नाटक में विदूषक होता है, वैसे ही श्रीरामकृष्ण की जीवनी में प्रताप को स्थान मिला है।"[२] वस्तुत: यही कारण था कि श्रीरामकृष्ण उसे सहन करते और उसके प्रति सहानुभूति तथा चिन्ता दिखाते। उन्होंने ही पहले-पहल उसकी तथा जटिला-कुटिला की भूमिकाओं में समानता की ओर दृष्टि आकर्षित किया था। श्रीरामकृष्ण ने एक बार अर्ध-भावावस्था में विनोद -पूर्वक कहा था, "हाजरा को देखा, शुष्क काष्ठवत् है। तो यहाँ रहता क्यों है? इसका कारण है, जटिला-कुटिला के रहने से ही लीला की पुष्टि होती है।"[३] २३ दिसम्बर को वे बोले, "तुम्हें विश्वास कहाँ है? तुम तो यहाँ वैसे ही हो जैसे व्रज में जटिला-कुटिला थीं, लीला की पुष्टि के लिए!"

हुगली जिले में मार्गेरे नाम से प्रसिद्ध मुहम्मदपुर में करीब १८४६ ई. में जन्मा प्रताप अपने गाँव के अन्य लोगों-जैसा ही पला-बढ़ा था। उसके पैतृक मकान के आँगन के उत्तरी कोने में बना विष्णु-मन्दिर तथा पारिवारिक पूजागृह में प्रतिवर्ष होनेवाली दुर्गापूजा प्रताप के मध्यमवर्गीय ब्राह्मण-परिवार की धार्मिक परम्परा दर्शाती है। प्रताप के पिता नारायण हाजरा सामान्य मध्यवर्ग के सद्गोप जाति के थे।

प्रताप ने थोड़ी-बहुत पढ़ाई तो की थी, परन्तु सम्भवत: न तो संस्कृत टोल में और न ही अँगरेजी स्कूल में ही उसे कोई व्यवस्थित शिक्षा मिली थी। उसकी बौद्धिक योग्यता के विषय में हम स्वामी सारदानन्द की प्रामाणिक उक्तियों पर निर्भर कर सकते हैं। वे लिखते हैं, "अन्य दोष-गुणों के साथ-साथ हाजरा महाशय के हृदय में सहसा किसी बात पर विश्वास न कर लेने का भाव भी था। उनके स्तर के अल्प-शिक्षित व्यक्तियों की तुलना में उनकी बुद्धि भी कुछ अच्छी ही थी। इसलिए नरेन्द्रनाथ की तरह अंग्रेजी शिक्षित लोग जब पाश्चात्य संशयवादी दार्शनिकों के मतामतों की चर्चा करते थे, तब वे भी उसमें से कुछ-कुछ समझ लेते थे। बुद्धिमान नरेन्द्रनाथ इसीलिए उन पर प्रसन्न थे और जब वे दक्षिणेश्वर आते, तो फुर्सत मिलने पर वे कुछ देर हाजरा महाशय के साथ बातें करते थे। नरेन्द्रनाथ की प्रखर बुद्धि के समक्ष हाजरा महाशय नतमस्तक हो जाते और विशेष मनोयोग से उनकी बातें सुना करते थे। हाजरा महाशय के प्रति नरेन्द्रनाथ का ऐसा मेल-मिलाप देखकर हममें से कोई-कोई परिहासपूर्वक कहते थे, 'हाजरा नरेन्द्रनाथ के 'फेरेंड' (friend) हैं'।"[४]

श्रीरामकृष्ण से भेंट होने से पूर्व ही प्रताप का विवाह हो चुका था। उसके यतीन्द्रनाथ नाम का एक पुत्र भी था। प्रताप की धार्मिक प्रवृत्ति कभी-कभी जब उसे धार्मिक साधना के पथ पर चलने को प्रेरित करती, तब उसके भीतर त्याग की भावना प्रबल हो उठती। पर उसका मन धार्मिक विचारों और

१. वृन्दावन की गोपियों के साथ श्रीकृष्ण की लीला में जटिला तथा कुटिला नाम की दो विघ्नकर्त्री पात्रों का उल्लेख वैष्णव-शास्त्रों में हैं।
२. श्रीश्रीरामकृष्ण-पुँथी (बँगला), अक्षय कुमार सेन, उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता, पंचम संस्करण, पृ. १८८
३. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, नागपुर, भाग १, सं. १९९९, पृ. २७३
४. श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, भाग २, सं. २००८, पृ. ८४५

सांसारिक महत्त्वाकांक्षाओं की खिचड़ी जैसा था। सभी कामों से सांसारिक लाभ उठाने की ओर उसकी पैनी नजर रहती।

१८७९[५] में या उससे पहले श्रीरामकृष्ण (कामारपुकुर के पास) फुलुई-श्यामबाजार गाँव के निकटस्थ बेलडिहा (बेल्टे) गाँव के नटवर गोस्वामी[६] के यहाँ गये और वहाँ सात दिन रहे थे। वहाँ श्रीरामकृष्ण को संकीर्तन के आनन्द के साथ-साथ बारम्बार भावावस्था में जाते देखकर दिन-रात लोगों की भीड़ एकत्र होने लगी। बाद में श्रीरामकृष्ण ने याद करते हुए कहा था, "एक बार मैं हृदय के गाँव शिहोड़ गया था। वहीं से मुझे श्यामबाजार ले गये। गाँव में घुसने के पहले ही मुझे गौरांग के दर्शन हुए थे।... सात रोज दिन-रात मैं लोगों की भीड़ से घिरा रहा था। इतना आकर्षण! दिन-रात बस भजन और कीर्तन! लोग दीवारों पर कतार बाँधकर खड़े थे, यहाँ तक कि वृक्षों पर भी चढ़े हुए थे। मैं नटवर गोस्वामी के घर रुका था। लोग दिन-रात मुझे घेरे रहते। सुबह मैं एक जुलाहे के घर भाग जाता, ताकि थोड़ा आराम मिल जाय। पर देखता कुछ मिनटों में लोग वहाँ भी जमा होने लगते।"

इस आनन्द-मेले से श्रीरामकृष्ण के स्वास्थ्य को खतरा देखकर हृदय उन्हें चुपचाप शिहोड़ ले आया। वहीं पर प्रताप चन्द्र हाजरा उनके दर्शनों के लिए आया था, क्योंकि उनके गहरे आध्यात्मिक जीवन और समाधियों ने उस इलाके में बड़ी धूम मचा दी थी। लोगों में अफवाह फैल गयी थी कि दक्षिणेश्वर के सन्त बार-बार मर जाते हैं और फिर उठ खड़े होते हैं। इस भेंट के समय प्रताप ने श्रीरामकृष्ण से एक मजेदार प्रश्न पूछा, "लगातार श्रीहरि को पुकारते रहने पर कभी-कभी मन में ऐसी शंका उठती है कि श्रीहरि में सुनने की शक्ति है भी, या नहीं।" श्रीरामकृष्ण ने मुस्कुराकर उत्तर दिया, "इसका कारण समझने की चेष्टा करो। तुमने किसानों को गन्ने के खेत में पानी ले जाते हुए देखा है न! पानी को बाहर बह जाने से रोकने के लिए खेतों में चारों ओर मेड़ बना दी जाती है, पर वह मिट्टी की बनी होती है और उसमें इधर-उधर कुछ छेद रह जाते हैं। किसान लोग खूब मेहनत करते हैं कि नाली द्वारा पानी भर जाय, पर वह छेदों में से इधर-उधर बह जाता है और अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाता। कामनाएँ भी उन छेदों के समान हैं। इसीलिए तुम्हारी सारी साधना और भगवान को पुकारना व्यर्थ चला जाता है, क्योंकि वह कामनाओं के छिद्रों से बह जाता है। मन यदि सांसारिक कामनाओं से मुक्त हो, तो सहज ही भगवान की ओर उन्मुख हो जाता है। भगवान के प्रति श्रद्धा-भक्ति रहे, तो झाड़ियों के बीच से भी मार्ग निकल आता है।"[७] इस संक्षिप्त उत्तर और विषय को इतनी स्पष्टता से समझाने के ढंग ने प्रताप को, उसके अपने स्वभाव के बावजूद, प्रभावित कर दिया। तो भी उसकी कथनी और करनी में जो अन्तर था, वह उसके व्यक्तित्व को गढ़ने के श्रीरामकृष्ण के प्रयास में बहुत बड़ी बाधा बना रहा। अपनी बात का बचाव करने के लिए कुतर्क करने की प्रवृत्ति उसमें इतनी दृढ़ थी कि श्रीरामकृष्ण अपने गृहस्थ-भक्तों को उसका उदाहरण देते हुए उससे होनेवाले खतरों से आगाह कर दिया करते।

शिहोड़ में हुई इस पहली भेंट के बाद ही किसी समय प्रताप श्रीरामकृष्ण के घनिष्ठ सम्पर्क में आया। हृदय के पूरी तौर से दक्षिणेश्वर छोड़ देने के पहले ही प्रताप वहाँ फुलुई-श्यामबाजार[८] के नटवर गोस्वामी के साथ आया था। यह निश्चय ही १२ जून १८८१ के पूर्व की घटना है। श्रीरामकृष्ण ने दोनों का स्वागत किया। उन्होंने प्रताप को दक्षिणेश्वर में ठहरने की स्वीकृति दे दी और उसकी अच्छी व्यवस्था करा दी। वे दूसरों से कहा करते, "प्रताप ऐसा आदमी नहीं है कि उसे हँसी में उड़ा दिया जाय। यदि इसे (मुझे) लोग बड़ी दरगाह समझते हैं, तो हाजरा छोटी दरगाह है।"

परन्तु श्रीरामकृष्ण-जैसे उच्च आध्यात्मिक गुरु मनुष्य के मन को पढ़ लेते हैं। उन्होंने शुरू में ही प्रताप की आध्यात्मिक अवस्था, उसके दोषों और भावी सम्भावनाओं को जान लिया था। बाद में उन्होंने कहा था, "वह (प्रताप) अपनी भक्ति में जरूर दृढ़ है। थोड़ा-बहुत जप भी करता है, पर कभी-कभी उसका व्यवहार विचित्र होता है।" इससे प्राय: उल्टी-सी बात उन्होंने नरेन्द्र से कही थी, जो प्रताप के प्रशंसक थे, "वह बड़ा दुष्ट है, धूर्त है; तुम उसे नहीं जानते।"[९]

प्रताप की माँ की लम्बी बीमारी के समय, श्रीरामकृष्ण ने उससे आग्रह किया कि वह घर जाकर अपनी माँ की सेवा करे। प्रताप इस पर नाराज हुआ और घर जाने की बजाय सींथी, भाटपारा और फिर वैद्यनाथ निकल गया। यह ज्ञात होने पर श्रीरामकृष्ण रुष्ट हुए भावावस्था में जगदम्बा के समक्ष बालक की तरह अभिमान करते हुए कहने लगे, "इस तरह के जंगली लोगों को तू यहाँ क्यों लाती है? (कुछ देर चुप रहने के बाद) मुझसे यह काम न होगा। एक सेर दूध में अधिक-से-अधिक आधा पाव या पाव भर जल हो – किन्तु उसकी जगह एक सेर दूध में पाँच सेर जल! चूल्हे में ईंधन

५. 'लीलाप्रसंग' (भाग १, पृ. ३४९-५०) के अनुसार श्रीरामकृष्ण १८७९ ई. में नटवर गोस्वामी के यहाँ गये थे; पर 'वचनामृत' (भाग १, पृ. ६२६) वर्ष १८८० ई. बताता है, तथापि दोनों सहमत हैं कि इनकी पहली भेंट शिहोड़ ग्राम में हृदयराम मुखर्जी के घर पर हुई थी।
६. बेल्टे के नटवर गोस्वामी एक प्रसिद्ध वैष्णव भक्त थे। श्रीरामकृष्ण उनके घर में करीब एक सप्ताह ठहरे थे।
७. पुँथी, पृ. ११८ – १९ सितम्बर १८८४ को भी प्रताप द्वारा ऐसा ही प्रश्न करने पर ठाकुर उसे आश्वस्त करते हैं कि यदि प्रार्थना सच्ची और आन्तरिक हो, तो भगवान सुनते हैं। (वचनामृत, भाग १, पृ. ६२६); **८.** पुँथी, पृ. २७३; **९.** वचनामृत, भाग २, पृ. ९१३

ठूँसते-ठूँसते धुएँ से मेरी आँखें जली जा रही हैं। तेरी इच्छा हो, तो तू भले ही ईंधन ठूँसती रह; मुझसे यह काम न होगा। फिर कभी ऐसे लोगों को यहाँ मत लाना।''[१०]

हिसाबी वृत्तिवाला प्रताप, साधना में भी, अपना हर कदम नाप-तौलकर ही रखता और तपस्या द्वारा भी किसी सिद्धि को पा लेने के चक्कर में रहता। श्रीरामकृष्ण की सलाह पर वह अपनी यह प्रवृत्ति छोड़ने को राजी न था। यद्यपि प्रताप के प्रति श्रीरामकृष्ण की करुणा और सहानुभूति थी, तथापि वे अपने तरुण-शिष्यों को सावधान करते हुए कहते, ''वह जो हाजरा है न, बहुत हिसाबी दिमागवाला है; उसकी बात पर कोई ध्यान मत देना।'' यद्यपि ये दोनों महानुभाव इतने निकट, करीब दस गज की दूरी पर ही रहते थे, परन्तु जीवन के लक्ष्य के विषय में उनके दृष्टिकोणों में कोई मेल न था; इसके बावजूद दोनों के बीच सौहार्द की कमी न थी।

यह बात भी उतनी ही स्पष्ट है कि प्रताप ने भी शीघ्र ही दक्षिणेश्वर में अपना एक स्थान बना लिया था। वह अपने को ज्ञान-पथ का साधक दिखाते हुए बीच-बीच में जोरों से 'सोऽहम्' मंत्र का उच्चारण करने लगता। वह काफी समय माला जपने में बिताता। उसके आचरण को देखकर एक बार श्रीरामकृष्ण ने कहा था, ''अपनी सब साधना और जप के बावजूद हाजरा दलाल की भाँति कहीं भी पैसे कमाने के मौके को हाथ से नहीं जाने देता।'' प्रताप पर करीब डेढ़ हजार रुपयों का ऋण था, जिससे वह बहुत चिन्तित रहता था।

आदर्श के प्रति निष्ठा के बावजूद वह अहंकारी था। उसने श्रीरामकृष्ण से कहा था, ''अभी तो मैं तुम्हें नहीं सुहाता, पर बाद में मुझे खोजना होगा।''[११] अपने इस दोष के कारण प्रताप किसी भी स्थान या परिवेश की गरिमा का ख्याल नहीं कर पाता। अन्य भक्तों से बिलकुल विपरीत – वह श्रीरामकृष्ण के दिव्य प्रभाव से अछूता बना रहा। प्रताप की धारणा थी कि भगवान उसे धन-दौलत देंगे, क्योंकि वह जप करता है। श्रीरामकृष्ण ने उसे कृपापूर्वक आश्वासन देते हुए एक दिन कहा था, ''तुम जब एक दिन जप कर रहे थे, तब मैं जंगल से होकर आ रहा था। मैंने कहा – माँ, इसकी बुद्धि तो बड़ी हीन है, यह यहाँ आकर भी माला जप रहा है। जो कोई यहाँ आएगा, उसे तत्काल ही चैतन्य होगा। उसे माला जपना आदि सब इतना न करना होगा।''[१२] पर प्रताप का अभिमान और दर्प ऐसा फूला हुआ था कि वह श्रीरामकृष्ण के इस आश्वासन पर विश्वास करना तो दूर, उसे पसन्द तक न कर सका।

श्रीरामकृष्ण ने उसे उपदेश दिया था, ''जिन लोगों में बाह्य शुचिता का फितूर होता है, वे ज्ञानलाभ नहीं करते। परम्परा का निर्वाह वहीं तक ठीक है, जितना आवश्यक हो। अति मत करो।'' श्रीरामकृष्ण के इस बहुमूल्य उपदेश के विपरीत प्रताप क्षुद्र आचार-विचारों का घोर समर्थक बन गया। वह दूसरों की, यहाँ तक कि श्रीरामकृष्ण की भी, निन्दा करता। कभी तो श्रीरामकृष्ण को महान् व्यक्ति समझता, पर उसके तुरन्त बाद ही उनकी निन्दा भी करता। दक्षिणेश्वर में जम जाने के बाद तो वह श्रीरामकृष्ण को भी उपदेश देने से नहीं चूकता। श्रीरामकृष्ण औपचारिक पूजा, माला फेरना, माथे पर चन्दन-तिलक लगाना आदि नहीं करते थे – यह देखकर एक दिन प्रताप उनसे बोला, ''देखिए, यह उचित नहीं है। यदि आप ज्यादा दिन ऐसा करेंगे, तो लोग आपका अनादर करेंगे। आप कुछ कीजिए, कम-से-कम मेरे समान माला ही जपिए – और नहीं तो आनेवाले दर्शनार्थियों के सन्तोष के लिए कीजिए। कितने लोग यहाँ आते हैं ! यदि वे लोग आपको माला फेरते देखेंगे, तो इतना तो सोचेंगे ही कि आखिर आपने कुछ साधना भी की है।'' श्रीरामकृष्ण ने दिल खोलकर हँसते हुए लाटू, रामलाल, हरीश आदि अन्य लोगों को बुलाकर बताया कि प्रताप क्या कह रहा है !![१३] प्रताप को सुख-सुविधा दिलाने में श्रीरामकृष्ण जिस धैर्य का परिचय देते, उसे शब्दों में बताना कठिन है। अपनी इतनी बुद्धिमत्ता के बावजूद प्रताप को परमहंस की उसके अपने प्रति करुणा रुचिकर न थी। कभी ठाकुर को लगता कि वह एक हानिकर कीड़ा है। कभी वह ठाकुर की उपस्थिति में विनम्र बन जाता, पर अगले ही क्षण उसका स्वभाव फिर लौट आता।

दम्भी एवं निन्दक प्रताप विवादास्पद एवं धर्मविरुद्ध मत का प्रतिपादन करता। कहता, ''अवतार हों या न हों, इससे क्या?''[१४] श्रीरामकृष्ण तो करुणासागर थे, सोचते, ''उस बेचारे का अपराध ही क्या है; वह कैसे जान सकता है?''[१५] उन्होंने सहानुभूति-भरे शब्दों में कहा था, ''हाजरा का दोष नहीं है। साधक-अवस्था में सम्पूर्ण मन 'नेति-नेति' करके उन्हें दे देना पड़ता है। सिद्ध-अवस्था की बात दूसरी है। उन्हें प्राप्त कर लेने पर अनुलोम और विलोम एक जैसे प्रतीत होते हैं।... तब ठीक-ठीक समझ में आता है कि सब कुछ वही हुए हैं।... उन्हें प्राप्त कर लेने पर फिर सब वस्तुओं में उनके दर्शन होते हैं। मनुष्य के भीतर उनका अधिक प्रकाश है। मनुष्यों में सतोगुणी भक्तों में उनका और अधिक प्रकाश रहता है – जिनमें कामिनी और कांचन के भोग की बिलकुल ही इच्छा नही रहती। समाधिस्थ मनुष्य जब उतरता है, तब भला वह कहाँ ठहरे? किस पर अपना मन रमावे? कामिनी और कांचन का त्याग करनेवाले सतोगुणी शुद्ध भक्तों की आवश्यकता उन्हें इसीलिए होती है। नहीं तो फिर वे क्या लेकर रहें?''[१६] श्रीरामकृष्ण हाजरा को बार-बार

१०. लीलाप्रसंग, भाग २, पृ. ४०७; **११.** वचनामृत, भाग २, पृ. ९१९; **१२.** वचनामृत, भाग १, पृ. ६८२

१३. अद्भुत सन्त अद्भुतानन्द, नागपुर, प्र.सं. १९९१, पृ. ६५

१४. वचनामृत, भाग १, पृ. २२३; **१५.** वही, पृ. २१४

आगाह करते कि वह दूसरों का दोष देखना छोड़ दे। एक दिन उन्होंने उससे कहा, "किसी के बारे में बुरा मत बोलो। नारायण स्वयं ही ये विभिन्न रूप धारण किये हुए हैं।" परन्तु प्रताप ने उनके उपदेशों पर ध्यान नहीं दिया।

प्रताप अस्थिर-चित्त था, प्राय: अपनी ही पहले की बातों को उलट देता; परन्तु आखिरकार उसे दूसरों के समान स्वयं ही समझ लानी थी और श्रीरामकृष्ण की स्नेहमय देखरेख में उसे अपनी गलत धारणाओं को सुधारने की छूट थी। कुशल श्रीरामकृष्ण ने १९ सितम्बर १८८४ को प्रताप को आश्वस्त करते हुए कहा था, "तुम जो कुछ कर रहे हो, वह ठीक है। परन्तु पटरी ठीक नहीं बैठती। किसी की निन्दा न किया करो – एक कीड़े की भी नहीं। जब भक्ति की प्रार्थना करोगे, तब साथ ही यह भी कहा करो कि मुझसे कभी दूसरे की निन्दा न हो।" पर शायद प्रताप उनके ऐसे उपदेशों को स्वीकारने के विषय में अधिक गम्भीर न था। यद्यपि वह खुलेआम कहता, 'यह संसार स्वप्नवत् मिथ्या है', पर धन, सम्पत्ति और नाम-यश के प्रति उसका आन्तरिक आकर्षण था। इस प्रकार की निष्ठा का अभाव साधक की आध्यात्मिक उन्नति में सबसे बड़ा रोड़ा है। फिर उसे तर्क करने में मजा आता। श्रीरामकृष्ण कई बार थोथे तर्क करनेवालों का उदाहरण देने के उद्देश्य से उसकी ओर इंगित करते हुए कहते, "हाजरा यहाँ पर बहुत जप-तप करता था, पर घर में स्त्री, बच्चे, जमीन आदि थी, इसलिए जप-तप भी करता है, भीतर-ही-भीतर दलाली भी करता है। इन सब लोगों की बातों में स्थिरता नहीं रहती। कभी कहता, 'मछली नहीं खाऊँगा', पर फिर खाता है।"[१७]

चालाक प्रताप की दृष्टि ऐसी तीक्ष्ण थी कि वह श्रीरामकृष्ण के धनाढ्य भक्तों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता और उनके सामने धर्म की अपनी बड़ी-बड़ी बातें बघारता रहता। यहाँ तक कि वह कुछ भक्तों का प्रिय भी हो गया था, जिनमें तेजस्वी नरेन्द्र भी एक थे। साथ ही वह अपने को शेष अन्य भक्तों से अलग भी कर लेता, क्योंकि वह बड़ा पाखण्डी भी था और सनकी भी। उसकी कथनी-करनी में अन्तर होने के कारण कई लोग उसे हेय दृष्टि से देखते।

अपने को खूब ऊँचा समझने के कारण वह हमेशा दूसरों के प्रति, विशेषकर श्रीरामकृष्ण की स्नेहछाया में रहनेवाले युवा भक्तों के प्रति बड़ी निन्दा का भाव रखता था। कई बार तो वह शैतानी भी करता और दूसरों को उनके आध्यात्मिक पथ से भटकाने और श्रीरामकृष्ण के मार्गदर्शन में चलनेवाले युवकों के विश्वास को डिगाने की चेष्टा करता। उदाहरणार्थ – वह कहता कि तोतापुरी मामूली व्यक्ति थे;[१८] वह चैतन्यदेव को 'आधुनिक अवतार हैं' कहकर साधारण समझता,[१९] वह कहता कि ब्राह्मण का शरीर धारण किये बिना मुक्ति नहीं होती;[२०] उसे यह नहीं समझाया जा सका कि ब्रह्म और शक्ति – एक और अभेद हैं, जो कि श्रीरामकृष्ण का मूल उपदेश था; वह शुद्ध आत्मा को ईश्वर कहता था।[२१]

हाजरा की इन कमियों के बावजूद श्रीरामकृष्ण ने उसे सहानुभूति और प्रेम दिया था, जिससे प्रताप अपनी दिव्यता की राह में अग्रसर होता रहे। श्रीरामकृष्ण ने १८८४ में उसे समझाया था "केवल शास्त्र पढ़ने से क्या होगा?... भलीभाँति खोज लेकर तब डूबो। तालाब में अमुक स्थान पर लोटा गिर गया है, जगह की ठीक जाँच करके डुबकी लगानी चाहिये।... उन्हें जब कोई प्राप्त कर लेता है, तब वेद, वेदान्त, पुराण, तंत्र सब इतने नीचे पड़े रहते हैं कि कुछ कहना ही नहीं!... प्रत्यक्ष दर्शन के पश्चात् जो जो अवस्थाएँ शास्त्रों में लिखी हैं, वे सब मुझे हुई थीं।... जब अन्तर्मुख होकर समाधिलीन हो जाता हूँ, तब भी देखता हूँ, वे ही हैं और जब बाहरी संसार में मन आता है, तब भी देखता हूँ, वे ही हैं। जब आइने के इस ओर देखता हूँ, तब भी वे ही हैं और जब उस ओर देखता हूँ, तब भी वे ही हैं।"[२२] श्रीरामकृष्ण तो, जो जिस स्तर पर होता, उसे वहीं से ऊपर उठाते। दयालु तथा सहृदय श्रीरामकृष्ण ने एक बार प्रताप को अपने चरणों को दबाने का एक अत्यन्त दुर्लभ सौभाग्य प्रदान किया था, जो बिरलों को ही प्राप्त था, ताकि प्रताप की आत्मग्लानि मिट सके; क्योंकि इसके पहले श्रीरामकृष्ण ने लक्ष्य किया था कि उसकी सेवा को अस्वीकार करने से उसे काफी पीड़ा हुई थी।

प्रताप की मानसिकता में कई विकृतियाँ ऐसी थीं, जिनके लिए हल्की झिड़क पर्याप्त थी, पर उसकी विकृति का एक ऐसा भी क्षेत्र था, जिसके लिए कठोर ताड़ना आवश्यक थी। युवक साधकों के आध्यात्मिक जीवन-गठन की प्रक्रिया में प्रताप की दखलंदाजी से कुपित हो श्रीरामकृष्ण ने एक दिन जगन्माता से प्रार्थना की, "माँ, हाजरा यहाँ का मत उलट देना चाहता है। या तो तू उसे समझा दे या उसे यहाँ से हटा दे।"[२३] श्रीरामकृष्ण उससे तंग आ गये थे और उसे सुधारने के लिए उनमें न उससे तर्क करने की इच्छा थी, न झगड़ने की। युवक भक्तों को अपनी स्नेहछाया में रख वे उन्हें विरोधी विचारों और विपरीत कर्मों से वैसे ही बचाकर रखते, जैसे एक मादा पक्षी अपने छोटे-छोटे बच्चों की सुरक्षा करती है। परन्तु उनकी असीम करुणा लम्बे समय तक बँधकर नहीं रह सकती थी। एक बार उन्होंने महिमाचरण से कहा था, "वह कभी-कभी मुझे शिक्षा देता है। जब तर्क करता है, तब कभी मैं उसे डाँट बैठता हूँ। तर्क के बाद कभी मसहरी के भीतर लेटा रहता हूँ, फिर यह सोचकर कि मैंने कुछ कह तो नहीं

१६. वही, भाग १, पृ. ३४७; **१७.** वही, पृ. ४५९; **१८.** वही, भाग १, पृ. ३९२; **१९.** वही, भाग २, पृ. ६८५

२०. वही, पृ. ६८६; **२१.** वही, पृ. ५४९; **२२.** वही, भाग १, पृष्ठ ६२९-३०; **२३.** वही, पृ. ६५७

डाला, निकल आता हूँ, हाजरा को प्रणाम कर जाता हूँ, तब कहीं चित्त स्थिर होता है।'' श्रीरामकृष्ण ने उसे काफी छूट दी थी, पर प्रताप का दुर्भाग्य था कि उसने उसका दुरुपयोग किया। उसका अभिमान घटने की जगह अधिकाधिक फूलता गया। वह लगभग असहनीय-सा हो गया और कभी-कभी तो वह बखेड़ा ही खड़ा कर देता। प्रताप के व्यवहार से त्रस्त होकर श्रीरामकृष्ण ने जगन्माता से प्रार्थना की ''माँ, देखो मैं कितनी दुविधा में हूँ! मैं इन बालकों की चिन्ता करता हूँ इसलिए हाजरा मुझे भला-बुरा कहता है।''

श्रीरामकृष्ण ने एक दिन जगन्माता से प्रार्थना की थी, ''माँ, यदि हाजरा ढोंगी है तो बड़ी कृपा होगी यदि तुम उसे हटा दो।'' बाद में उन्होंने प्रताप को अपनी इस प्रार्थना के बारे में बतला दिया। थोड़े दिनों बाद वह फिर आया और हँसकर कहने लगा, ''देखिए, मैं तो अब भी यहाँ बना हूँ।'' परन्तु आश्चर्य है कि कुछ दिन बाद ही उसे दक्षिणेश्वर से चले जाना पड़ा।[२४] उसकी झंझट दूर होने से श्रीरामकृष्ण को कुछ राहत मिली और वे युवक भक्तों का अबाध रूप से मार्गदर्शन करने लगे। परन्तु हाजरा हमेशा के लिए नहीं गया था, क्योंकि दिसम्बर १८८५ के अन्तिम सप्ताह में हम उसे एक बार फिर काशीपुर-उद्यान में देख पाते हैं।

यद्यपि प्रताप आध्यात्मिक उन्नति की मिथ्या धारणा से ग्रस्त होने के कारण एक प्रकार की तृप्ति का अनुभव करता, तथापि श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक उच्चता इतनी प्रत्यक्ष थी कि हाजरा का मन महिमाचरण की उपस्थिति में बोल उठा, ''आप निरुपम हैं, आपकी उपमा नहीं है, इसीलिए आपको कोई समझ नहीं पाता।''[२५] उसे हम श्रीरामकृष्ण को प्रणाम करते, उनको अपना रक्षक और मार्गदर्शक मानते हुए भी देखते हैं। यह भाव आध्यात्मिक प्रगति के लिए बहुत अनुकूल है, पर प्रताप में वह अधिक देर तक नहीं टिकता था, भले ही हम उसे, श्रीरामकृष्ण जहाँ-जहाँ जाते, उसके आसपास ही विद्यमान देख पाते हैं।

१ जनवरी, १८८६ के दिन काशीपुर उद्यान में श्रीरामकृष्ण ने दिव्य भाव में आरूढ़ हो, गिरीशचन्द्र घोष तथा उपस्थित बत्तीस भक्तों में से अनेकों पर यह कहते हुए कृपा की थी कि ''तुम लोगों को और अधिक क्या कहूँ? तुम्हें चैतन्य हो!'' उन विशेष भाग्यवान् लोगों ने अनुभव किया था कि पहली बार श्रीरामकृष्ण ने स्वयं को ईश्वर के अवतार के रूप में प्रत्यक्षत: प्रकट किया है। यह जब घटा, तब प्रताप अनुपस्थित था। सन्ध्या को लौटने पर उसने श्रीरामकृष्ण द्वारा बरसायी इस अनुपम कृपा के बारे में सुना। दु:ख से भरकर वह नरेन्द्रनाथ के पास गया, जिन्होंने उसका विनोदभरा नाम दिया

२४. वही, भाग २, पृ. ९१३; **२५.** वही, पृ. ७६५

था 'थाउजेंडा' अर्थात् चैतन्यवान्।[२६] नरेन्द्रनाथ 'थाउजेंडा' के साथ विशेष सहानुभूति और दोस्ती का भाव रखते थे, इसीलिए उसकी सहायता के लिए तत्पर होकर वे उसे श्रीरामकृष्ण के पास ले गये, जो उस समय गम्भीर रूप से बीमार थे। नरेन्द्रनाथ के बार-बार प्रार्थना करने पर भी श्रीरामकृष्ण ने उस समय हाजरा पर किसी प्रकार की विशेष कृपा करने से मना कर दिया। फिर भी सहृदय श्रीरामकृष्ण ने बहुत सहानुभूति प्रकट करते हुए प्रताप को आश्वासन दिया कि उसकी मृत्यु के समय उसे चैतन्य-लाभ होगा। शायद निरुत्साहित प्रताप को इस पर विश्वास नहीं हुआ, क्योंकि इसके पाँच दिन बाद पूरे दिन उपवास कर उसने श्रीरामकृष्ण के चरणों को पकड़कर अपने ऊपर विशेष कृपा करने का अनुरोध किया। बड़ी कठिनाई से प्रताप को अलग किया जा सका।[२७] परन्तु प्रताप अब आश्वस्त हो उठा था कि उसको चैतन्य-लाभ जरूर होगा, इसलिए वह खुश भी था।

इसके कुछ दिन बाद उसके बड़े पुत्र यतीन्द्रनाथ ने कलकत्ते आकर उसे अपने साथ गाँव चलने पर जोर दिया। प्रताप अपने गाँव चला गया और वहाँ आध्यात्मिक जीवन बिताने की चेष्टा करने लगा। यद्यपि सांसारिकता के प्रति उसका आन्तरिक रुझान था, तो भी अब वह अपने सांसारिक जीवन के साथ तालमेल नहीं बिठा पा रहा था। अपने घर के बैठकखाने में कुछ दिन बिताने के बाद वह दक्षिणेश्वर लौट गया। श्रीरामकृष्ण के लीला-संवरण के बाद उसका अभिमान और अधिक बढ़ गया तथा अपनी चरम सीमा पर तब पहुँच गया, तब उसने एक दिन सारदाप्रसन्न (बाद में त्रिगुणातीतानन्द) से यह पूछने की धृष्टता की, ''तुम मेरे बारे में क्या सोचते हो?'' लाटू महाराज ने बाद में बताया था, ''श्रीरामकृष्ण के लीला-संवरण के बाद प्रताप सोचने लगा था कि वह भगवान का बड़ा अवतार है; यहाँ तक कि वह अपने को श्रीरामकृष्ण से भी अधिक ऊँचा समझने लगा था।''[२८]

तो भी उसमें कुछ गम्भीर परिवर्तन आये थे। वह अपनी अति-निन्दक वृत्ति को कुछ रोकने में समर्थ हुआ था, भले ही अपने कुटिल स्वभाव की अनेक विकृतियों को वह सरलता से नहीं सुलझा पा रहा था। वह गाँव लौट गया और घर में रहने लगा। इस समय उसके एक दूसरा पुत्र शरत्चन्द्र और एक पुत्री हुई थी। हाल की खोज से पता लगा था कि उसके कुछ वंशज अभी भी है। इस हाजरा-परिवार के प्रमुख अभी (१९८० में) ४८ वर्षीय चण्डी हाजरा हैं, जो प्रताप के प्रथम पुत्र यतीन्द्रनाथ के वंशज हैं।

२६. श्रीमत् विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली (बँगला), महेन्द्रनाथ दत्त, कलकत्ता, तृतीय संस्करण, खण्ड १, पृष्ठ १४१

२७. उद्बोधन (बँगला), वर्ष ७६, (अग्रहा. १३८१), पृष्ठ ५२८-२९

२८. अद्‌भुत सन्त अद्‌भुतानन्द, नागपुर, प्र.सं. १९९१, पृ. ६६

यद्यपि प्रताप ने ऊपरी तौर से यह नहीं स्वीकार किया कि श्रीरामकृष्ण एक सन्त से कुछ अधिक थे, पर धीरे-धीरे वह उन पर निर्भर होते चला और अन्त में उसने उनका आश्रय ले लिया। महेन्द्रनाथ दत्त के संस्मरण से हमें पता चलता है कि प्रताप अपने अन्तिम दिन अधिकतर श्रीरामकृष्ण के एक अन्य भक्त, कलकत्ता के मछुआ बाजार के ईश्वरचन्द्र मुखर्जी, के सान्निध्य में बिताता था। १८९४ में जब दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण का जयन्ती-महोत्सव मनाया गया, तब प्रताप श्रीरामकृष्ण के कमरे के उत्तर-पूर्वी बरामदे में अपना आसन जमाकर बैठा था। उसने दिन भर माला जपी थी। इसमें कोई संशय नहीं कि वह जप करने में निपुण था।''[२९]

उसके अन्तिम दिन उसके भीतर घटे परिवर्तनों के नाटकीय चित्रों से युक्त थे। १९०१ के मार्च-अप्रैल महीने में वह अपने गाँव में था। तीन दिन से उसे थोड़ा ज्वर था; गाँव का एक चिकित्सक उसको देख रहा था। एक दिन शाम को प्रताप ने अपनी पत्नी से कहा कि वह गाँववालों को दूसरे दिन सुबह उसके घर आने का अनुरोध कर आए, क्योंकि वह सुबह के करीब ९ बजे अपना शरीर छोड़नेवाला है। उसकी बड़बोलियों से परिचित होने के कारण उसकी पत्नी ने इस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया। इस पर दूसरे दिन सुबह उसने अपनी पत्नी को लोगों को बुला लेने के लिए जोर देकर भेजा। कुछ लोग यह सुनकर हँसे और कुछ मजा देखने के लिए आ जुटे।

साढ़े आठ बजे लोगों ने उसे माला जपते देखा, जैसा कि वह प्राय: करता था, परन्तु कुछ लोगों ने उसमें एक परिवर्तन पाया – उसके मुखमण्डल पर चमक थी और वह आनन्दित लग रहा था। सहसा वह उच्च स्वर में बोला, "स्वागत है ! हार्दिक स्वागत है ! देखो, ये ठाकुर आ रहे हैं ! इतने दिनों बाद ठाकर ने कृपापूर्वक मुझे याद किया है !'' उसने अपनी पत्नी को श्रीरामकृष्ण के लिए एक आसन बिछाने को कहा। बार बार कहने पर उसकी पत्नी ने वैसा ही किया। प्रताप कहने लगा, "ठाकुर ! कृपया आप आसन पर विराजिए और तब तक प्रतीक्षा कीजिए, जब तक मेरे प्राण नहीं छूट जाते।'' फिर से प्रताप अपनी माला जपने लगा। इसके बाद ही वह फिर बोल उठा, "स्वागत है ! राम दादा ! स्वागत है ! ये राम दादा हैं ! मैं कितना भाग्यवान हूँ !'' उसकी पत्नी ने उसके कहने पर दूसरा आसन बिछा दिया, जिस पर अपने अदृश्य अतिथि को बैठकर प्रतीक्षा करने के लिये हाजरा ने प्रार्थना की। उसने फिर से जप में अपने मन को केन्द्रित किया। वह फिर से अचानक आनन्द से चिल्ला पड़ा, "स्वागत ! बहुत-बहुत स्वागत ! ये योगीन महाराज आ रहे हैं ! अहा ! कितने आनन्द का दिन है !'' प्रताप ने योगीन महाराज से भी बैठने का निवेदन किया। इसके बाद वह हाथ जोड़कर श्रीरामकृष्ण से कहने लगा, "आपने मुझ पर इतनी कृपा की है। अब मुझ पर एक कृपा और कीजिए। कृपया मेरे साथ तुलसी के पौधे के पास चलिए, मैं वहीं अपनी देह छोड़ना चाहता हूँ !'' श्रीरामकृष्ण की अनुमति पाकर उसने अपनी पत्नी से आँगन में तुलसी के पौधे के पास आसन बिछाने के लिए कहा तथा अपना बिस्तर भी उसके पास लगा देने के लिए कहा। उसने दूसरों के लिए अदृश्य उन तीनों अतिथियों से आसन ग्रहण करने की प्रार्थना की। फिर अपने बिस्तर पर लेटकर वह माला जपने लगा। उसका चेहरा आनन्द से दीप्त हो उठा। चूँकि संशय बहुत कठिनाई से मिटता है, इसलिए सब लोग यही सोचते रहे कि यह भी प्रताप का पहले-जैसा ही कोई ढोंग है, पर उनको तब इस पर विश्वास हुआ जब प्रताप ने तीन बार 'हरि' कहते हुए प्राण त्याग दिये। उन लोगों को दु:ख तो हुआ, पर साथ ही आश्चर्य भी। कोई भी घटनाक्रम के ऐसे मोड़ के लिए प्रस्तुत न था।[३०] हाजरा उस समय ६२-६३ वर्ष के थे।[३१]

स्वामी अद्‌भुतानन्दजी ने बाद में कहा था कि नरेन्द्रनाथ के मैत्रीपूर्ण सहयोग के कारण ही हाजरा-जैसा ढोंगी और विचित्र व्यक्ति भी श्रीरामकृष्ण की कृपा पा सका। श्रीरामकृष्ण का दिया वचन अब पूरा हो गया और प्रताप मृत्यु के समय परम शान्ति को प्राप्त हो गया। इस धराधाम में श्रीरामकृष्ण की दिव्य लीला में प्रताप का स्थान अति महत्त्वपूर्ण है। श्रीरामकृष्ण के साथ उसका सम्बन्ध उन अन्य संशयी, निन्दाशील और ऐसे लोगों के लिए प्रेरणादायी है, जो चाह कर भी अपनी कुटिलता दूर नहीं कर पाते। श्रीरामकृष्ण का हाजरा के साथ व्यवहार इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि वे किस प्रकार एक ऐसे असहाय साधक को, जो अपनी प्रतिभाओं का बुरी तरह से दुरुपयोग करता है, धीरज के साथ उसकी आध्यात्मिक चेतना को प्रबुद्ध करने में सहायता देते हैं तथा अन्त में उसे दिव्य आनन्द के लोक में ले जाते हैं।

आनेवाली शताब्दियों में जहाँ भी श्रीरामकृष्ण का स्मरण किया जाएगा, वहीं साथ में श्रीरामकृष्ण-लीला में जीवन्त विनोद और चटकीले रंग भरनेवाले प्रताप चन्द्र हाजरा का भी प्यार और विनोद के साथ स्मरण किया जाएगा।[३२] ❑❑❑

२९. श्रीमत् विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली, पृ. १०७

३०. 'तत्त्वमंजरी' वर्ष ७, अंक ९, पृ. २१४-१६

३१. श्रीरामकृष्ण (बँगला), सुबोध चन्द्र डे, १३३४ बंगाब्द, पृ. २७६। 'म' के अनुसार हाजरा की मृत्यु अप्रैल-मई १९०१ में ६३ या ६४ की आयु में हुई थी; द्र. 'तत्त्वमंजरी', वर्ष ४, अंक ४, पृ. ७३

३२. श्रीश्रीरामकृष्ण महिमा (बँगला), अक्षय कुमार सेन, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण, पृ. ६३

स्वामी प्रेमानन्द के संग में (१७)

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

१. छूआछूतग्रस्तों के प्रति उपदेश

''ठाकुर शुचिता-भाव से ग्रस्त लोगों की बड़ी हँसी उड़ाया करते थे। कहते – केवल अशुद्धि का विचार करते-करते शुचिता-भाव से ग्रस्त लोगों के मन में सदा अशुचिता का भाव बना रहता है। इसीलिए उनमें ईश्वर-चिन्तन का प्रवेश बड़ा कठिन है। वे उन लोगों को, मस्तक पर घूरे की मिट्टी का टीका लगाकर ध्यान करने को कहा करते थे। इसी से कहीं यह न समझ बैठना कि शौचविहीन तथा आचाररहित होने से ही परमहंस अवस्था की प्राप्ति हो जाती है।

''ठाकुर ने माँ को वकालतनामा देकर जीवन यापन किया था। गिरीश बाबू ने ठाकुर को वकालतनामा दिया। वकालतनामा का अर्थ है – किसी को किसी कार्य का भार सौंप देना। गिरीश बाबू ने अपनी दुर्बलता देखकर ठाकुर के ऊपर अपनी आध्यात्मिक उन्नति का भार सौंप दिया था। यह बड़ी कठिन बात है। अहंकार का लेशमात्र भी रहते वकालतनामा नहीं दिया जा सकता। ठाकुर कहते – इसमें आँधी में उड़ते जूठे पत्तल के समान रहना पड़ता है। जैसे बिल्ली अपने छौने को कभी बड़े आदमी के बिस्तर पर, तो कभी राख की ढेरी पर सुलाए रखती है। जो लोग सुख-दुख में विचलित हुए बिना उनमें मनोनियोग कर सकते हैं, जो निष्ठुर कर्तव्य के बीच भी कह सकते हैं – **त्वया हृषीकेश हृदि-स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि** – (हे प्रभो, आप मेरे हृदय में बैठकर जैसा चलाते हैं, मैं वैसा ही चलता हूँ), उन्होंने ही ठीक ठीक वकालतनामा दिया है। उन्होंने ही वास्तव में 'सर्व धर्मों का परित्याग' करके उनकी शरण ली है और प्रभु उन्हीं का भार ग्रहण करके उन्हें 'सर्व पापों से मुक्त' करते हैं।

''तुम लोग सद्ग्रन्थों का खूब पाठ करना। पाठ करना बहुत अच्छा है। ठाकुर के पास जाने पर वे हमें पढ़ने को कहा करते थे। उनके पास 'मुक्ति और उसका साधन' नाम की एक पुस्तक थी। वे हमें उसमें से पढ़कर सुनाने को कहते। जब तक पुस्तक पढ़ी जाती है, कम-से-कम तब तक तो उनके भाव में रहा जाता है। नहीं तो क्या लेकर रहोगे? हर समय तो ध्यान-जप किया नहीं जा सकता। परन्तु पढ़ना-लिखना आदि सब गौण बातें हैं। जब तक उनकी दया नहीं होती, तब तक सब व्यर्थ है – **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।।**

''उनकी दया होने से अनन्त ज्ञान का स्फुरण होता है। तब फिर पुस्तक आदि पढ़ने की इच्छा नहीं होती। प्रत्यक्ष देखने और पुस्तक पढ़कर जानने में काफी भेद है। इसी कारण तुम लोग कहीं प्रह्लादों के दल बनकर न बैठ जाना। वे तो 'क' बोलते ही आकुल होकर रो उठे थे। जानते हो, ठाकुर कहते थे – जब तक मलय-वायु नहीं बहती, तब तक पंखे की हवा खानी चाहिए।

''तीर्थस्थानों का दर्शन करने से भी उनका उद्दीपन होता है। परन्तु ठाकुर यह भी कहा करते थे – जिसका यहाँ नहीं, उसका वहाँ भी नहीं और जिसका यहाँ है, उसका वहाँ भी है। तीर्थ मनुष्यों के द्वारा ही पवित्रीभूत हुए हैं। महापुरुषों की शुभेच्छा से तीर्थ की वायु पवित्रता से परिपूर्ण रहती है, इसीलिए संसारतप्त लोग वहाँ शान्ति पाते हैं। तीर्थ की पवित्रता का कारण मनुष्य हैं और वहीं पर यदि बुरे चिन्तन का स्रोत बहता रहे, तो उस तीर्थ का माहात्म्य क्रमशः नष्ट हो जाता है। पहले के दिनों में केवल सच्चे भक्त ही कष्ट उठाकर तीर्थ करने जाते थे, परन्तु आजकल जिसके पास पैसे हैं, वही जलवायु-परिवर्तन के लिए या किसी अन्य कारण से तीर्थाटन पर निकल जाता है।

''ठाकुर की कृपा से तुम लोग उनमें मग्न हो जाओ, जिसे पूरी तौर से डूब जाना कहते हैं। भगवान बातों की चीज नहीं, बल्कि उपलब्धि की वस्तु हैं। चाहे जैसे भी हो, उनको हमें पाना ही होगा। उनकी प्राप्ति के बिना इस त्रितापदग्ध संसार-मरुभूमि को पार करने का अन्य कोई उपाय नहीं। अन्य कोई भी वस्तु संसार में शान्ति प्रदान नहीं कर सकती। मरुहृदय के लिए भगवद्भक्ति ही एकमात्र शीतल जल है।''

२. राढ़ीखाल उत्सव का प्रसंग

पूजनीय बाबूराम महाराज तथा महापुरुष महाराज – मठ के पश्चिमी ओर के बरामदे में बेंच के ऊपर एक साथ आसीन हैं। उनकी बगल में और सामने के छोटे बेंच पर ब्रह्मचैतन्य तथा राढ़ीखाल (ढाका) से आये कुछ भक्त भी बैठे हैं। पहले यहीं बैठकर साधु तथा भक्तवृन्द चाय पीया करते थे।

यही वह तीर्थस्थान है, जहाँ बैठकर नित्यसिद्ध ईश्वरकोटि पूज्यपाद स्वामी ब्रह्मानन्द, तुरीयानन्द, शिवानन्द तथा प्रेमानन्द आदि ठाकुर के अन्तरंग त्यागी शिष्यगण, मठ में आये हुए स्कूल-कॉलेज के छात्रों और भक्तों को मुक्तहृदय से कितने ही

अमृतोपम मर्मस्पर्शी उपदेश तथा ठाकुर की बातें सुनाया करते थे। जो सुनता, वही मंत्रमुग्ध हो जाता।

आज शुक्रवार, १० मार्च, १९१६ ई. का दिन है। रात के लगभग आठ बजे हैं। आगामी रविवार को ठाकुर का जन्म-महोत्सव है।

बाबूराम महाराज – (महापुरुषजी से) राढ़ीखाल से कई भक्त अपने अंचल में उत्सव में भाग लेने को मुझे ले जाने आये थे। तारकदा! उनकी जो भक्ति थी न! क्या कहूँ! भक्ति से बिल्कुल गद्‌गद थे! मैंने कहा – ठाकुर की इच्छा हुई तो जाऊँगा। उसके बाद मैंने 'शर्त' लगायी। मैंने दो उँगलियों में से उन्हें एक पकड़ने को कहा। मन-ही-मन ऐसा ठीक कर लिया था कि 'एक' पकड़ने से जाऊँगा और 'दो' से नहीं जाऊँगा। मैंने जिस उंगली पर जाने का संकल्प किया था, भक्त ने वही उँगली पकड़ ली। तो भी मैं बोला – ठाकुर की इच्छा होगी तो जाऊँगा। वे लोग किसी भी हालत में मुझे छोड़ने को तैयार न थे, कहते रहे – आपको जाना ही होगा। मैं बोला – कलकत्ते में शरत् महाराज हैं, उनका मत लाओ; वे कहें तो जाऊँगा। इस पर वे बेचारे माँ-के-घर गये और शरत् महाराज को राजी करके उनका पत्र लेकर मठ वापस लौटे। उन्होंने लिखा था – 'इस समय मठ में श्री महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) या अन्य कोई वरिष्ठ साधु नहीं है; किस पर छोड़कर जाओगे, परन्तु ठाकुर की इच्छा है, तो जाओ।'

"मुझे इसके पहले ही ठाकुर की सहमति मिल चुकी थी। खैर, मैं गया। वहाँ जाकर देखा कि लगभग हर घर में ठाकुर को आसन पर बैठाकर पूजा की जाती है। बहुत-से लोगों की उनके प्रति ऐसी भक्ति है कि वे उन्हीं को 'इष्ट' बनाना चाहते हैं। विश्वविख्यात विज्ञानाचार्य डॉक्टर जगदीश चन्द्र बोस के घर में ठहरा था। उनका छोटा भाई बड़ा भक्त है, हम लोगों को बड़े यत्नपूर्वक रखा था। (महापुरुष जी से) वह जो मुकुन्द नाम का खूब मोटा-सा लड़का मठ में आता है न! आपने उसे देखा है, उत्सव में खूब जय आदि देता है, वह उसी गाँव का है। उसी के प्रयत्न से वहाँ प्रतिवर्ष उत्सव होता है और गाँव के लोग भक्त बनते हैं। उस लड़के के भीतर खूब उद्यम है।

"पहले ये लड़के उसी गाँव में संकीर्तन करते हुए उत्सव के लिए भिक्षा माँगने जाया करते थे। कोई दो आने, कोई चार आने, कोई आठ आने, तो कोई एक रुपया चन्दा देता था। या कोई एक-डेढ़ मन चावल ही दे देता। इस बार जब मैं गया, तो वे लोग संकीर्तन करते हुए गाँव में भिक्षा माँगने गये। क्या कहूँ तारक दा! बड़े आश्चर्य की बात है – जो दो आने देता था वह आठ आने, जो आठ आने या एक रुपया देता था वह पाँच रुपये और जो एक मन चावल देता था वह पाँच मन चावल देने लगा। फिर उस गाँव के मुसलमान भी दु:ख व्यक्त करते हुए कहने लगे – हमारे घर भिक्षा के लिए क्यों नहीं आये? मुसलमान लोगों के घर भिक्षा के लिए न जाने पर वे कहते – "क्या वे (बाबूराम महाराज) केवल आप ही लोगों के हैं? महाशय, वे हम लोगों के भी तो पीर हैं।" मुसलमान लोग मुझे पीर कहा करते थे और उसी प्रकार से भक्ति भी करते थे। वहाँ से मठ लौटने के कुछ दिन बाद मेरे अस्वस्थ होने पर वहाँ के मुसलमानों ने सिरनी की मनौती की थी, ताकि मैं जल्दी-से-जल्दी चंगा हो जाऊँ। मठ में तार भी भेजा था कि हमारे पीर कैसे हैं।

(महापुरुष महाराज से) "ठाकुर का वह अनन्त भाव भला कैसे समझूँगा! ठाकुर का यह सब खेल खूब देखा है और अब थोड़ा-थोड़ा समझ रहा हूँ। नहीं तो हमारी क्या शक्ति जो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई तक हमारी इतनी भक्ति करते!

"उस गाँव में मजदूरों का वेतन बहुत अधिक है। एक सज्जन ने एक आम का पेड़ काटकर उसे चिरवाकर घर तक पहुँचाने के लिए बारह रुपये का सौदा किया था। मुकुन्द ने उनसे कहा – हमें वे रुपये दे दीजिए तो हम वह पेड़ काटकर उसकी लकड़ी आपके घर पहुँचा देंगे। इतना कहकर सबने मिलकर पेड़ को काटा! उसकी लकड़ी को कन्धे पर ढोकर उनके घर पहुँचा दिया और उनसे बारह रुपये लेकर उत्सव के लिए दे दिया। देखिए, कितने उद्योगी हैं! इसी प्रकार के उद्यम की आवश्यकता है। (भक्तों के प्रति) –

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी।
दैवेन देयम् इति कापुरुषा वदन्ति।।

– उद्योगी लोग ही लक्ष्मी की प्राप्ति करते हैं और आलसी कापुरुष लोग ही भाग्य के ऊपर निर्भर करके बैठे रहते हैं।

भक्त – महाराज, पुरुषार्थ तो सर्वदा सफल नहीं होता!

बाबूराम महाराज – शास्त्र और साधु के उपदेशानुसार काय-मनो-वाक्य से चलना ही सच्चा पुरुषार्थ है, वही सफल होता है। बाकी सब पुरुषार्थ उन्मत्त चेष्टा मात्र हैं। दैव (भाग्य) और किसको कहते हैं? पुराना पुरुषार्थ ही तो भाग्य है। जहाँ साधु के उपदेश और शास्त्र के आदेशानुसार पुरुषार्थ सफल नहीं होता, वहाँ समझ लेना होगा कि अपने पूर्व जन्मों के दुष्कर्म प्रबल हैं। या फिर प्रयास में ही कोई त्रुटि या दोष है। इस जन्म में सत्कर्म करते-करते पुराने दुष्कर्म क्षीण हो जाते हैं। भाग्य भी पुरुषार्थ से स्वतंत्र नहीं है। पिछले जन्मों का जो पुरुषार्थ है, वही इस जन्म का भाग्य बनता है। जगत् में मनुष्य बनूँगा, बड़ा बनूँगा, देवता बनूँगा – मन-ही-मन ऐसी अभिलाषा मात्र रखने से काम नहीं होगा, उसके लिए प्रबल चेष्टा या पुरुषार्थ चाहिए। आलस्य के दोष से ही यह जगत् मूर्ख तथा निर्धन

लोगों से परिपूर्ण है।

३. निष्काम कर्म ही पूजा है

बाबूराम महाराज – ढीला-ढाला भाव ठाकुर-स्वामीजी को पसन्द नहीं था। वे डकैत जैसी भक्ति की बात कहते थे। ऐसा आत्मविश्वास जगाने को कहते थे कि 'मैं मनुष्य हूँ, मैं सब कुछ कर सकता हूँ'। भगवत्प्राप्ति तथा देश-जनता के कार्य के लिए निःस्वार्थता, एकता, निरभिमानता तथा उद्यमशीलता की आवश्यकता है। ठाकुर का ही जीवन देखो न, वे जब जिस भी साधना में व्रती हुए है, किस उद्यम, एकाग्रता तथा अध्यवसाय के साथ उसमें डूब गये हैं। वे कितने निरभिमान थे ! इतना अभिमान भी उनमें न था कि मैं साधु हूँ। कोई उन्हें साधु कहे, तो वे कहते – 'कौन साला साधु है।' यह ठाकुर के ही मुख की बात है।

"मान-अपमान तथा अहंभाव को मिटाकर कार्य में उतर जाने पर ही उसमें सफल हुआ जाता है। इस बात का ध्यान रखना होगा कि कार्य में कहीं स्वार्थपरता तथा स्वामित्व का भाव तो नहीं प्रविष्ट हो रहा है। जो करोगे, सब ठाकुर का दास होकर करोगे और कर्म का फल भी उनके चरणों में अर्पित कर देना होगा। तब वही कार्य पूजा हो जायेगी। स्वामीजी कहा करते थे – कर्म ही पूजा है। गीता में भी है –

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्।। ९/२७

– "तुम जो कुछ भी करो, जो भी खाओ, जो भी यज्ञ-दान या तप करो – हे अर्जुन, वह सब मुझको अर्पित कर दो।"

सिद्ध रामप्रसाद ने भी ठीक इसी भाव के एक भजन की रचना की थी –

रे मन, मेरा बात सुन, चाहे जैसे भी हो सके,
गुरु से प्राप्त मंत्र का दिन-रात जप करते हुए,
तू माँ-काली का भजन करता रह ।।

लेटने को उन्हें प्रणाम करना समझ,
निद्रा लेते समय तू माँ का ध्यान कर;
भोजन करते समय मन में यही भाव रख
कि मैं माँ-काली को आहुतियाँ दे रहा हूँ ।।

तू कानों से जो कुछ भी सुनता है,
उन समस्त शब्दों को माँ का मंत्र ही समझ;
क्योंकि माँ पचास-वर्णमयी है और वर्णमाला के
हर वर्ण के रूप में उसने अपना ही नाम रखा है ।।
'रामप्रसाद' आनन्दपूर्वक यह देखता है
कि ब्रह्ममयी-माँ ही सभी में विराज रही है;
(अत:) नगर में विचरण करते समय सोच
कि मैं माँ-काली की प्रदक्षिणा कर रहा हूँ ।।

कुछ काल मौन रहने के बाद महाराज पुन: कहने लगे।

बाबूराम महाराज – "गेरुआ ले लेने से ही क्या होगा? गेरुआ पहन लेने ही सब हो जाता है क्या? त्याग, वैराग्य, प्रेम, भक्ति, विश्वास हुए बिना बाहर के गेरुए से क्या होगा? गृहस्थ का कर्मत्याग, ब्रह्मचारी का व्रतत्याग और संन्यासी का इन्द्रिय-चापल्य – ये सभी आश्रम-विडम्बना हैं। गेरुआ त्याग का चिह्न है। मन में काम-कांचन से अनासक्ति हो, तभी बाहर गेरुआ शोभित होता है, नहीं तो मन में भोग की स्पृहा बजबजा रही है और बाहर से गेरुआ धारण केवल सजना मात्र है। मन को गेरुए रंग में – त्याग, वैराग्य, अनासक्ति, भगवान के प्रति अनुराग के रंग में रँगना होगा।

राजा धरे राजवेश, और योद्धा रणजयी।
अपने मन को वश में लाये, सर्वश्रेष्ठ है वही ।।

"मन को वश में करो, ठाकुर को अपना बना लो, तो गेरुए की कोई आवश्यकता न होगी। जो ठाकुर को अपना बना लेगा, उसका आदर्श जीवन गठित हो जायगा, वही तो हमारा अपना आदमी है। (महापुरुष महाराज के प्रति) क्या कहते हैं, महाशय? हमारा और कौन है? अभिमान और अहंकार पूरी तौर से दूर करके तुम लोग चुपचाप बैठे रहो, फिर देखो कि तुम्हारे द्वारा क्या होता है!"

महापुरुष महाराज (राढ़ीखाल के भक्तों के प्रति) – "तुम लोग ठाकुर को पकड़ो, उन्हें अपना बना लो। स्त्री, पुत्र, भाई, बन्धु – जो जहाँ भी हो, सबको ठाकुर का भक्त बना डालो। संन्यासी होकर, गेरुआ पहनकर क्या होगा? स्त्री, पुत्र, माँ, बाप – यदि सभी भक्त हो जायँ, तो फिर घर छोड़ने की क्या जरूरत? उनके अभक्त होने से ही तो घर छोड़कर भागते हैं।"

४. वैराग्य में परम शान्ति है

आज मंगलवार, १६ मार्च, १९१६ का दिन है। परसों बेलूड़ मठ में श्रीरामकृष्ण का सार्वजनिक उत्सव सम्पन्न हो गया। आज रात प्रसाद पाने के बाद पूजनीय बाबूराम महाराज तथा गंगाधर महाराज पूर्व की ओर के बरामदे में बड़े बेंच पर पूर्व की ओर मुख किये बैठे हैं। श्रद्धेय कृष्णलाल महाराज (स्वामी धीरानन्द), केदार बाबा (स्वामी अचलानन्द), जीतेन महाराज, ब्रह्मचैतन्य आदि दूसरे बेंच पर बैठे हैं।

केदार बाबा – (बाबूराम महाराज के प्रति) "कुछ ठाकुर के बारे में कहिए। आपके मुख की बातें 'वचनामृत' पढ़ने से भी अधिक प्रभावशाली होती हैं। मन में दृढ़ रूप से अंकित हो जाती हैं।"

बाबूराम महाराज – "ठाकुर की भला कितनी बातें 'वचनामृत' में हैं! मास्टर महाशय ने अपनी पुस्तक में एक ही बात बार-बार लिखी है। वे बीच-बीच में ठाकुर के पास जाया करते थे। जो कुछ सुनकर आते, उसे नोट करके रख लेते।

ठाकुर गृही या त्यागी – जैसा भी श्रोता देखते, उसी के अनुसार उपदेश देते। वे किसी के भाव नष्ट नहीं करते थे; जिसके पेट में जो सहन होता, उसे उसी प्रकार के उपदेश देते थे – गृहस्थों को एक प्रकार का और त्यागियों को अन्य प्रकार का। उनके कमरे में जब कोई गृही भक्त नहीं रह जाता, तब द्वार बन्द करके वे हम लोगों को त्याग-वैराग्य के ज्वलन्त उपदेश देते। फिर बीच बीच में बाहर जाकर देख आते कि कोई संसारी व्यक्ति तो नहीं आ रहा है। कामिनी के प्रति, संसार के प्रति जिससे हमारे मन में घोर वैराग्य का उदय हो, वैसी सब बातें उपमा के द्वारा बतलाते, ताकि वे हमारे प्राणों में बिंध जायँ।

"अहा, उनकी क्या दया थी ! संसार मरुभूमि है, मरीचिका है, दावानल के समान है, इसमें सुख नहीं है, शान्ति नहीं है; इसीलिए वे हमें पहले से ही सावधान कर देते। विचार करने को कहते – स्त्री के शरीर में क्या है? रक्त, मांस, अस्थि, विष्ठा, मल, मूत्र, मवाद ! ऐसा शरीर तो घृण्य वस्तु है ! परन्तु माया की कैसी मोहिनी शक्ति है ! दुनिया भर के लोग उसके लिए लालायित हैं, अपना होशो-हवाश खोकर उसके पीछे दौड़ रहे हैं। बड़े-बड़े बाबू लोगों तक का यही हाल है। ठाकुर कहा करते थे – स्त्री ने त्रिभुवन को खा डाला। कामिनी दिल्ली का लड्डू है; जिसने खाया, वह पछताया और जिसने नहीं खाया, वह भी पछताया।

"कँटीले घास में रस नहीं होता, तो भी ऊँट उसी घास को चबाता रहता है। चबाते चबाते उसके मुख से झरझर खून बहने लगता है, तो भी वह उसी कँटीले घास को खाता है। संसारी लोगों ने समझ लिया है कि संसार में सुख नहीं है, तो भी वे उसी ओर जायेंगे। स्त्री-सुख में क्या रखा है? कुछ भी तो नहीं है ! तो भी दुनिया उसी को लेकर व्यस्त है।

दिन को मोहिनी, रात को बाघिनी, पल-पल लहू चूसे;
दुनिया सभी बावरा होके घर-घर बाघिन पोसे ।।

"इस नरक की द्वार कामिनी के लिए कांचन की आवश्यकता होती है। इसीलिए ये दोनों ही मनुष्य के मन को आबद्ध कर लेते हैं। मनरूपी हाथी कामिनी-कांचन की शृंखला में बँधा हुआ है। जो इस जंजीर को तोड़ सकता है, वही तो मुक्त है। जिसने स्त्री-सुख का त्याग किया है, उसने जगत्-सुख का त्याग किया है। केवल बाहर से ही नहीं, जिसके मन के कोने में भी उसके प्रति स्पृहा नहीं है, आसक्ति नहीं है, वही सच्चा त्यागी है। मछली, पान आदि का त्याग – त्याग नहीं है, या बाहर से शरीर में राख मलकर या दिगम्बर होकर रहने से ही त्यागी नहीं हुआ जाता। ठाकुर यही सब कहते थे।

"फिर कर्ताभजा से आरम्भ करके वैष्णव मत, तांत्रिक मत, आधुनिक ब्राह्म मत, वेदान्त मत आदि भिन्न-भिन्न मत के साधकों को मैं दक्षिणेश्वर में उनके पास आते देखता। प्रत्येक मत के साधक ठाकुर के साथ वार्तालाप करने के बाद बड़े आनन्दित होकर लौटते। वे लोग सोचते कि ठाकुर उन्हीं के मत के एक सिद्ध पुरुष हैं। वे बहुरूपिया है, उनके भाव, उनका मत आकाश के समान उदार, स्फटिक के समान शुद्ध -स्वच्छ, तथापि समुद्र के समान गम्भीर-अतलस्पर्शी है – यह बात भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के सभी साधक समझ पाते थे। ठाकुर ने सभी मतों का साधन किया था न ! इसीलिए सभी मतों – सभी पथों की बातें जानते थे।

"कर्ताभजा लोग स्त्री को लेकर साधना करते हैं। श्यामबाजार में काछीबागान में उनका अखाड़ा था। वैष्णवचरण उसी मत के एक उच्च साधक थे। वे बीच बीच में ठाकुर से मिलने कभी अकेले, तो कभी किसी को साथ लेकर दक्षिणेश्वर आया करते थे। वे लोग स्त्री को लेकर साधना करते हैं, इस कारण एक दिन गिरीश बाबू ने घृणापूर्वक कहा था – कर्ताभजा लोगों के बारे में एक नाटक लिखूँगा। यह सुनकर श्रीरामकृष्ण गम्भीरतापूर्वक बोले – उनमें भी कोई-कोई सिद्ध पुरुष हुए हैं, वह भी एक मार्ग है।" ❖ **(क्रमशः)** ❖

माँ की कृपा

अन्नदाचरण सेनगुप्त

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

पूर्वी बंगाल के (खुलना जिले में स्थित) मूलघर गाँव में अपने मामा के घर रहकर पढ़ाई-लिखाई करके अल्प आयु में ही नौकरी पाकर मैं १९०३ ई. में वहाँ से बारीसाल चला आया। मामा के घर रहते समय ठाकुर, माँ और स्वामीजी की बातें तथा रामकृष्ण मिशन की सेवाओं के विषय में सुना करता था। सुनकर बड़ा अच्छा लगता। श्रीम-लिखित 'वचनामृत' पढ़ता। अच्छा लगता। उस समय हाल ही में स्वामीजी का देहत्याग हुआ था, ठाकुर तो पहले ही चले गये थे। अत: सोचता कि जाकर माँ के दर्शन करूँगा; उन्हीं से दीक्षा लूँगा। सोचता, क्या वे मेरे मन की यह प्रबल इच्छा पूर्ण करेंगी?

कुछ वर्ष बाद १९०८ ई. में विभिन्न सूत्रों से जानकारी लेकर मैं अपने दफ्तर के एक सहकर्मी पूलिन बाबू के साथ कलकत्ता में बिडन स्ट्रीट के पास अपने एक दूर के भाई प्रमदाचरण सेनगुप्त के घर पर ठहरा। सुना, माँ उस समय बागबाजार के वर्तमान उद्बोधन लेन वाले मकान में हैं। शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) उनकी सेवा करते हैं और दर्शनार्थियों तथा भक्तों के साथ बातचीत करते हैं।

मैं कलकत्ते में नया-नया आया था, किसी से जान-पहचान नहीं थी। मन में प्रबल इच्छा थी कि माँ का दर्शन करूँगा और उनसे दीक्षा लूँगा। कलकत्ता आने के अगले ही दिन माँ का दर्शन करने गया। शरत् महाराज को अपनी इच्छा बताने पर उनके निर्देश पर माँ के एक सेवक ने मेरे साथ बातचीत की। सेवक महाराज ने कहा, "अभी माँ विश्राम कर रही हैं। कल सुबह आइये, मैं माँ को सब कुछ बताकर रखूँगा।" इसके बाद उन्होंने हमारे विषय में सब पूछ लिया कि कहाँ से आये हैं, कहाँ रहते हैं, आदि आदि। अगले दिन निर्दिष्ट समय पर मैं 'माँ के घर' हाजिर हुआ। सेवक महाराज मुझे पास के कमरे में ले गये। देखा – माँ लम्बा घूँघट काढ़े बैठी हैं। बहुत डर लग रहा था कि यदि वे कुछ पूछें, तो! माँ को चुपचाप प्रणाम किया। उस समय भी माँ के चेहरे पर लम्बा घूँघट था।

सेवक ने माँ से कुछ कहा। माँ ने धीरे-धीरे अपने चेहरे से घूँघट हटाकर मेरी तरफ स्नेहपूर्वक देखा। मैं मंत्रमुग्ध-सा हो गया! कैसी मधुर वह दृष्टि थी! मन आनन्द और तृप्ति से परिपूर्ण हो गया।

मैंने पुन: माँ को प्रणाम किया। कुछ देर बाद सेवक ने आकर मुझसे कहा, "माँ ने आपको दीक्षा देने की सहमति दे दी है। गंगास्नान कर दीक्षा के लिये तैयार (प्रस्तुत) होकर आइये।" मैं घर से स्नान करके ही गया था। फिर गंगाजी में स्नान करके फूल-मिठाइयाँ लेकर 'माँ के घर' आया। उसी दिन मेरी दीक्षा हो गयी। शरत् महाराज ने मुझे माँ का एक चित्र और कुछ उपदेश दिये। दो-तीन दिन कलकत्ते में रहकर मैं फिर अपने कर्मस्थल बारीसाल लौट गया।

बारीसाल आकर मन में बहुत बल मिला। कुछ स्थानीय भक्तों को एकत्र करके मैंने वहाँ 'रामकृष्ण-पाठचक्र' आरम्भ किया। वहाँ प्रति रविवार शाम को ठाकुर-स्वामीजी की बातों पर चर्चा होती और भजन गाये जाते।

अब मैं माँ की अहैतुकी कृपा की एक घटना लिपिबद्ध करके अपनी स्मृतियों की बातें समाप्त करूँगा। माँ कल्पतरु हैं। कातर होकर कुछ भी माँगने पर वे निराश नहीं करती, मनोकामना पूर्ण करती हैं। इसी प्रसंग में एक घटना बताता हूँ। उन दिनों माँ का चित्र आसानी से नहीं मिलता था। केवल मठ-मिशन के घनिष्ठ लोग और माँ के दीक्षित भक्तगण ही उनकी एक फोटो प्राप्त कर सकते थे। दीक्षा के उपरान्त मुझे भी माँ का एक चित्र प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। निर्देश था कि उसे बड़ी गोपनीयता के साथ रखा जाय। मैंने उसे उसी प्रकार रखने की चेष्टा भी की, परन्तु विभिन्न जगहों पर बड़ी गोपनीयता से रखने के फलस्वरूप दीक्षा के प्राय: ६-७ महीने बाद वह चित्र कहाँ रख दिया, यह मुझे याद ही नहीं आ रहा था। बहुत ढूँढ़ने पर भी जब वह चित्र नहीं मिला, तब मैं बड़ा चिन्तित हुआ। पुलिन बाबू के साथ सलाह करके आखिरकार मैंने निश्चित किया कि पुन: कलकत्ते जाकर दूसरा चित्र लाने की चेष्टा करूँगा। सुयोग पाकर मैं कलकत्ते गया और एक दिन उद्बोधन-कार्यालय में

जाकर शरत् महाराज से सब कुछ निवेदित किया। पुलिन बाबू ही महाराज के पास गये। मैं अलग ही रहा। अपनी भूल की बात सोचकर मुझे महाराज के सामने जाने का साहस नहीं हुआ। पुलिन बाबू ने डरते-डरते महाराज से सारी बातें कहीं और मेरा अनुरोध भी बताया। सुनकर महाराज जोरों से डाँटते हुए बोले, "यह क्या रानी विक्टोरिया का चित्र समझ बैठे हो, जो उसे बैठकखाने में सजाओगे। ये बच्चे इतने गैर-जिम्मेदार, लापरवाह हैं!" और भी न जाने क्या-क्या सुनाते रहे! महाराज की डॉट सुनकर पुलिन बाबू एक-एक कदम पीछे हटते हुए वहाँ से खिसक गये। उनके साथ ही मैं भी खिसका। हम बारीसाल लौट गये।

अब क्या किया जाय? हम दोनों ने चुपचाप सलाह करके निश्चय किया कि अब माँ को सब कुछ बता कर उनसे प्रार्थना करने के सिवा अन्य कोई उपाय नहीं। तदनुसार मैंने सारी घटना को पत्र में लिखकर उन्हें सूचित करने के बाद अन्त में प्रार्थना जतायी, "माँ, यदि आप ही व्यवस्था न करें, तो चित्र पाने की मुझे अन्य कोई आशा नहीं दिखाई दे रही है।"

यथासमय उनका आशीर्वाद पत्र आ पहुँचा। उसमें अन्य बातों के उपरान्त माँ ने लिखा था, "तुम लोगों को चिन्तित होने की जरूरत नहीं। उद्बोधन आकर शरत् को यह पत्र दिखाने पर चित्र मिल जायेगा।" पत्र पाकर मैं आनन्द से उत्फुल्ल हो उठा। सुयोग मिलने पर फिर कलकत्ते गया। साथ में माँ के आशीर्वादी पत्र के रूप में 'अक्षय कवच' था। पिछली बार के समान इस बार भी स्वयं दूर रहकर पुलिन बाबू को शरत् महाराज के पास भेजा। उस समय मेरी आयु अल्प – केवल २४ वर्ष थी। शरत् महाराज के विशाल देह और गम्भीर मूर्ति के सामने जाने का साहस करना मेरे लिये सहज बात न थी। पुलिन बाबू भी डरते-डरते ही महाराज के सामने पहुँचे। इस बार उन्होंने उनके बिल्कुल पास न जाकर कुछ दूर से ही प्रणाम किया और माँ का पत्र महाराज के सामने रख दिया। पत्र पढ़कर थोड़ा-सा सिर हिलाते-हिलाते मृदु हास्य के साथ महाराज ने कहा, "हूँ! तो सीधे हाइकोर्ट में अपील किया गया है, हाइकोर्ट में अपील किया गया है।" इतना कहने के बाद वे गणेन (ब्रह्मचारी गणेन्द्रनाथ) को पुकारकर बोले, "यह छोकरा माँ के जो-जो चित्र चाहता है, दे दो।" माँ की एक से अधिक चित्र पाने की बात मेरे मन में उठी भी नहीं थी, क्योंकि उस समय एक ही चित्र पाना मेरे लिये महासौभाग्य की बात थी। अत: गणेन महाराज से माँ का एक चित्र लेकर आनन्द में डूबता-उतराता मैं कर्मस्थल बारीसाल लौट आया।

आज की परिस्थिति में इस घटना का महत्त्व समझना कठिन है, क्योंकि आज माँ के चित्र बड़ी सहजता से सर्वत्र उपलब्ध हैं। पर उस काल की दृष्टि से यह घटना अकल्पनीय तथा स्वाभाविक रूप से ही महासौभाग्य से पूर्ण थी। बारीसाल लौटने के मार्ग में मैं आनन्दपूर्वक बारम्बार एक ही बात सोच रहा था कि कातर होकर माँ से प्रार्थना करने पर माँ किसी की भी आकांक्षा अपूर्ण नहीं रखतीं। मुझे अप्रत्याशित रूप से ही उनकी कृपा प्राप्त हुई थी। मेरी योग्यता न होने पर भी उन्होंने कृपा करके मुझे दीक्षादान किया था। और इस घटना के द्वारा एक बार फिर करुणामयी माँ ने अपनी कृपादान करके मुझे कृतकृत्य किया। उनका वह चित्र आज भी मेरे पास है। आज वही मेरा सबसे बड़ा सम्बल है।

मैं माँ के स्पर्श से धन्य हुई

नीलिमा बसु

बागबाजार के उद्बोधन भवन में भगवान श्रीरामकृष्ण के कमरे में माँ पूजा में बैठी हैं। उसके उढ़के हुए द्वारों के बीच से एक छोटी-सी बच्ची धीरे-धीरे अन्दर प्रवेश करती है। कमरे में ठाकुर का चित्र, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य – भलीभाँति सजे हुए पूजा की वस्तुओं को वह विस्मित होकर देख रही है। उसके इस नि:शब्द प्रवेश और विस्मित मुग्ध दृष्टि की ओर माँ का ध्यान आकृष्ट होता है। कहीं माँ की पूजा में विघ्न न पड़े – यह सोचकर दो सेविकाएँ शीघ्रतापूर्वक बच्ची को खींचकर बाहर ले जाने का प्रयास कर रही हैं – देखकर माँ ने कहा, "उसे मत ले जाओ, मेरे पास ले आओ।"

माँ के कहने पर एक सेविका ने बच्ची को उठाकर धीरे से उनके घुटनों पर रख दिया। माँ ने अपने दोनों कर-कमलों से बच्ची के दोनों हाथ पकड़कर कहा, "पूजा करेगी? पूजा करेगी? बोल – 'नमो-नमो'।" इसी बीच बच्ची की माता शचीबाला देवी भी शंकित चित्त से अपनी चंचल कन्या को देखने के लिए भागीं कि पता नहीं वह पूजाघर में घुसकर माँ को किस तरह परेशान कर रही है! वे राँची से माँ के श्रीचरणों के दर्शन की आशा में बागबाजार आयी हैं। कमरे में प्रवेश करके बच्ची को बुलाने जाकर वे विस्मय से अवाक् रह गयीं! कैसा अद्भुत स्वर्गीय दृश्य था वह!

माँ के स्पर्श से धन्य वह बालिका मैं ही हूँ। माँ के प्रिय शिष्य राँची के सुरेन्द्रकान्त सरकार मेरे पिता थे, जिन्हें महाराज स्वामी ब्रह्मानन्दजी 'वीरभक्त' कहा करते थे।

❖ (क्रमशः) ❖

मोह की महिमा

संकलित

एक समय नारदजी घूमते हुए बैकुण्ठलोक में जा पहुँचे। वहाँ भगवान को अकेले बैठे देखकर वे बोले, "आपका वैकुण्ठ-लोक तो इस समय खाली-खाली लग रहा है। यहाँ कोई चहल-पहल नहीं दिखायी देती। इस लोक में तो किसी भी प्रकार का दुख नहीं है, केवल सुख-ही-सुख है, तो फिर पृथ्वीलोक से लोगों को लाकर यहाँ बसा क्यों नहीं लेते?"

भगवान बोले, "हाँ नारदजी, यहाँ सभी प्रकार के सुख तो उपलब्ध हैं, तथापि कोई भी यहाँ आने का इच्छुक नहीं है। मैं भी यहाँ एकाकीपन अनुभव कर रहा हूँ। दूसरे दस-पाँच लोग हों, तो उनके साथ दो घड़ी बातें करके जी बहलाऊँ। कोई सेवा करनेवाला भी नहीं है। अब मैं क्या करूँ – पृथ्वी से कोई यहाँ आना ही नहीं चाहता!"

नारदजी ने कहा, "यह आप कैसी बात कहते हैं! बैकुण्ठ का नाम सुनकर किसके मुख में पानी नहीं भर आयेगा! कौन अभागा यहाँ को लालायित न होगा!"

भगवान बोले, "ठीक है, तुम्हीं जाकर दस-पाँच लोगों को यहाँ ले आओ, तो यहाँ का कुछ सेवा-कार्य भी चले।"

नारदजी बड़े उत्साह और उमंग के साथ निकल पड़े। पृथ्वी पर पहुँचते ही उसकी एक वृद्ध आदमी से भेंट हो गयी। नारदजी ने पूछा, "क्यों बाबा, बैकुण्ठ चलोगे?"

प्रश्न सुनकर वृद्ध आपे से बाहर हो गया। कर्कश आवाज में वह नारदजी से बोला, "अभागे, मैं वहाँ क्यों जाऊँ? मेरे घर में बेटे-पोते, स्त्री, धन-सम्पदा – सब कुछ है। तेरा न कोई आगे है न पीछे, तू ही बैकुण्ठ जा।"

नारदजी धीरे से खिसक पड़े। आगे उन्हें एक जवान आदमी मिला। वे उससे भी पूछ बैठे, "बैकुण्ठ चलोगे?"

वह बोला, "बाबा, बैकुण्ठ तो बुड्ढों के लिये बना है। जो किसी काम के लायक न रहे, वही बैकुण्ठ जाय। हम तो हर तरह का काम कर सकते हैं, हम भला क्यों बैकुण्ठ जायँ!"

वहाँ से थोड़ी दूर जाने पर एक व्यक्ति और मिला। वही प्रश्न दुहराने पर वह नारदजी से बोला, "अरे, जाकर किसी लूले-लंगड़े को ढूँढ़ लो। यहाँ तुम्हारी दाल नहीं गलेगी।"

इसी प्रकार नारदजी ने बहुत-से लोगों को बैकुण्ठ-लोक जाने का निमंत्रण दिया, परन्तु कोई भी राजी नहीं हुआ।

तभी नारदजी की दृष्टि एक वृद्ध साहूकार पर पड़ी। वे छापा-तिलक आदि लगाये हुए अपनी दुकान में बैठे हुए थे। नारदजी ने मन-ही-मन सोचा, "यह तो भगवान का भक्त दिखता है, इसलिये जरूर राजी हो जायेगा। यदि मैं एक व्यक्ति को भी बैकुण्ठ ले जा सका, तो मेरी नाक बच जायेगी, क्योंकि मैं भगवान से वादा करके आया हूँ कि किसी-न-किसी को हम आपकी सेवा में जरूर लायेंगे।"

नारदजी 'नारायण-नारायण' की आवृत्ति करते हुए सेठजी के पास जाकर बैठ गये। सेठजी ने बड़ी श्रद्धा के साथ उनकी आवभगत की। उत्साह पाकर नारदजी ने धीरे से सेठजी के कान में बोले, "संसार का सारा सुख तो आपने देख ही लिया, अब चलकर थोड़ा बैकुण्ठ का सुख भी भोग लो।"

सेठजी ने कहा, "आपने बहुत अच्छी बात कही। मेरी भी यही इच्छा है, लेकिन क्या करूँ! लड़का अभी छोटा है। जरा बड़ा होकर दुकान का कामकाज सँभाल ले, तो निश्चित होकर चलूँ। आप थोड़े दिनों बाद आ जाइये न!"

कुछ काल बाद नारदजी फिर आ धमके। बोले, "अब तो तुम्हारा लड़का सयाना हो गया है। अब तुम बैकुण्ठ चलो।"

सेठजी बोले, "लड़का बड़ा तो जरूर हो गया है, परन्तु उसके बाल-बच्चे हो लें, तब अवश्य चलूँगा।"

आश्वासन पाकर नारदजी उचित समय फिर आ पहुँचे। बोले, "अब तो तुम्हारा पोता भी हो गया!"

सेठजी ने कहा, "जरा इसकी शादी तो हो लेने दीजिये। इसका विवाह देखने के बाद तो मैं जरूर चलूँगा।"

अबकी बार नारदजी लौटे, तो दुकान पर सेठजी दिखाई नहीं दिये। लड़के से पूछने पर उसने बताया कि उनका तो कई महीने पहले देहान्त हो चुका है।

नारदजी ने ध्यान लगाया, तो पता चला कि सेठजी साँप के रूप में जन्म लेकर अपने पारिवारिक धन की रक्षा कर रहे हैं। नारदजी ने जाकर उन्हें उनके वचन की याद दिलायी। सेठजी बोले, "देखिये, लड़का अभी सम्पत्ति को सँभालने लायक नहीं हुआ है। जब वह धन की रक्षा करने में समर्थ हो जायेगा, तो चला चलूँगा।"

कुछ काल बाद नारदजी फिर पहुँचे, तो देखा कि सेठजी कुत्ते का जन्म लेकर दरवाजे पर बैठा हुए हैं। बोले, "देखिये जी, मेरी बहू अभी अपरिपक्व है। मैं द्वार पर बैठकर चोर-उचक्कों से घर की रक्षा करता रहता हूँ। मैं न रहता, तो ये कब के सारा माल-मत्ता उठाकर ले जाते।"

आखिरकार हार मानकर नारदजी बैकुण्ठ लौटकर भगवान से बोले, "प्रभो, आपने सच कहा था! संसारी लोग अपने धन-मान तथा सम्बन्धियों की मोह-ममता में ऐसे फँसे हैं कि कोई भी बैकुण्ठ का सुख प्राप्त करने को राजी नहीं है।

अभूतपूर्व बलिदान

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी जपानन्दजी के कुछ संस्मरणों तथा तीन पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी', 'आत्माराम की आत्मकथा' का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। उन्होंने काठियावाड़ की कुछ कथाओं का भी बँगला में पुनर्लेखन किया था, जो हमें श्री ध्रुव राय से प्राप्त हुई हैं। उन्हीं रोचक तथा प्रेरणादायी कथाओं का हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

– १ –

गुजरात के पत्तन या पाटन के सुविख्यात राजा सिद्धराज की रानियाँ – तीर्थयात्रा के निमित जूनागढ़ के गिरनार में पधारी थीं। राव दायात उन दिनों जूनागढ़ के राजा थे। सिद्धराज की परम सुन्दरी कन्या भी रानियों के साथ आयी हुई थी। राजा दायात को जब पता चला, तो उन्होंने उसे अपनी रानी बनाने का प्रस्ताव भेजा। अंगरक्षक सैनिकों के मुखिया ने देखा कि परिस्थिति गम्भीर है – बिना चतुराई के राजकुमारी को जूनागढ़ से पाटन लौटा ले जाना मुश्किल होगा। उसने रानियों की ओर से उत्तर दिया, "यह तो पाटन के लिये बड़े सौभाग्य की बात है! आपके समान वीर पुरुष तथा सौराष्ट्र के अधिपति के हाथों में कन्या समर्पित करने में रानीमाता को जरा भी आपत्ति नहीं है। परन्तु उसके पिता सिन्धुराज की अनुमति लिये बिना वे पक्का बचन नहीं दे सकतीं। वैसे हमें ज्ञात है कि वे भी आपके इस प्रस्ताव पर बड़े प्रफुल्लित होंगे। अभी तो हम लोग तीर्थ में अपना व्रत पूरा करने आये हुए हैं, परन्तु गुजरात लौटते ही हम इस विषय में आपको पक्की सूचना भेजेंगे। प्रतीक्षा कीजिये।"

यह सुनकर राजा दायात ने उनका खूब सत्कार किया और वे लोग स्नान, दर्शन आदि तीर्थकर्म सम्पन्न करने के बाद सकुशल अपने राज्य में लौट गये।

* * *

सिद्धराज के लिये सौराष्ट्र पर विजय प्राप्त करना एक पुराना स्वप्न था। उन्होंने इसी मौके से उसे पूरा करने का संकल्प किया। राजकुमारी की एक सखी को 'राजकुमारी' के रूप में सजाया गया और घाघरे पहने तथा घूँघट निकाले हुए तीन हजार चुने हुए सैनिकों के साथ उसे बैलगाड़ियों में रवाना कर दिया गया। वे लोग अस्त्र-शस्त्रों से लैश होकर पर्दानशीन औरतों के रूप में विवाह देने चल पड़े। राजपूतों की प्रथा के अनुसार उनके साथ कुछ गायिकाएँ भी थीं, जो रास्ते भर विवाह के गीत गाते हुए सबको आनन्द प्रदान कर रही थीं। कन्या भी अस्त्र-शस्त्र चलाने में कुशल थी, क्योंकि वह महल के अन्दर पहरेदारी का कार्य करती थी।

राजपूतों में ऐसी प्रथा है कि कन्या को ही विवाह के लिये वर के यहाँ ले जाया जाता है। वैसे अन्य वर्णों के समान बारात ले जाने की भी प्रथा है, इसीलिये सिद्धराज उस बालिका को कन्यादान करने के लिये जूनागढ़ ले गये। राव दैवात आनन्द से अभिभूत हो उठे। राजकुमारी के आगमन का संवाद पाकर कितने ही तरह के सुख-स्वप्न देखने लगे! विवाह के आयोजन में कोई त्रुटि नहीं हुई। हर प्रकार के आनन्द और खेल-तमाशों की व्यवस्था की गयी थी।

राजा स्वयं ही अपने दरबारियों को साथ लेकर सिद्धराज का स्वागत करने के लिये नगर के परकोटे के बाहर आये और उनका सादर सत्कार करने के बाद सभी को सभा-मण्डप में ले आये। जब एक हजार बैलगाड़ियाँ किले के पहले द्वार को पार कर चुकीं, तो एक द्वार-रक्षक के मन में सन्देह हुआ कि गाड़ियों में कोमलांगी नारियाँ नहीं हैं! उसने अपने सरदार को यह बात बतायी और सन्देह के कारण के रूप में कहा –"गाड़ी के चक्कों की भारी आवाज पर ध्यान दीजिये। कहीं यह विश्वासघात तो नहीं है?"

उनकी उस बातचीत को गुप्त-योद्धाओं में से एक ने सुन लिया और पहले से ही निर्धारित सतर्क-ध्वनि की। तब तक आधी गाड़ियाँ भीतर घुस चुकी थीं। वह आवाज सुनते ही अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित उन चुनिंदे सैनिकों का दल गाड़ियों में से कूदकर बाहर निकल पड़ा। सीटी की आवाज सुनते ही बड़े फाटक के सरदार ने द्वार को बन्द करके युद्ध-सूचक नगाड़ा बजाया। तुमुल युद्ध आरम्भ हुआ। फाटक पर स्थित सारे सैनिक मारे गये। सिद्धराज के सिपाहियों ने राव दायात तथा उनके लोगों पर अचानक ही आक्रमण कर दिया था। वे लोग युद्ध के लिये जरा भी तैयार न थे, तो भी प्राण रहते तक वे लोग युद्ध करते रहे। इस भयंकर हत्याकाण्ड के बाद जूनागढ़ राज्य सिद्धराज के अधीन हो गया।

– २ –

राव दायात के कुलदीप के रूप में केवल एक छोटा-सा पुत्र ही बच गया था। जब रानियाँ 'सती' होने की तैयारी कर रही थीं, तो छोटी रानी आकुल हृदय से सोच रही थी – इस समय मेरा क्या कर्तव्य है? पति के साथ सती हो जाऊँ या फिर राजकुल के एकमात्र शिशु-प्रदीप को प्रज्वलित रखने का प्रयास करूँ? परन्तु तत्कालीन क्रूर प्रथा ने उसके कोमल मातृ-हृदय के सारे स्पन्दनों को क्षण भर में ही रुद्ध कर दिया। पति का निधन हो जाने के कारण उसे भी 'सती' होना पड़ेगा – शिशु की रक्षा या पालन के लिये भी उसे अपने

प्राण रखने की स्वाधीनता न थी। उसके लिये मातृधर्म की तुलना में स्त्रीधर्म ही प्रधान था, क्योंकि पति की मृत्यु के बाद जो स्त्री जीवित रह जाती है, वह कभी सती नहीं कहलाती।

छोटी रानी सोचने लगी कि क्या कोई ऐसा विश्वासपात्र या पात्री है, जिसे इसके जीवन-प्रदीप को प्रज्वलित रखने का गुरुभार सौंपा जा सके? एक वृद्धा दासी अग्रसर होकर बोली, ''रानी माँ, यदि मुझ पर विश्वास हो, तो कुमार को मुझे सौंप दो। मैं अग्निदेवता के सामने प्रतिज्ञा करती हूँ कि अपना प्राण रहते उनका अनिष्ट नहीं होने दूँगी।'' रानी ने लम्बी साँस ली और कुमार को उस दासी के हाथों में देकर उसे अपना वात्सल्यपूर्ण आशीर्वाद देते हुए अन्तिम बार उसका चुम्बन लिया। इसके बाद वे 'सती' हो गयीं।

दासी जानती थी कि कुमार को गोद लेने का अर्थ ही है 'मौत को निमंत्रण देना'। परन्तु राव दायात के अन्न पर पली हुई वह किस प्रकार उनके वंश की एकमात्र आशा को ध्वंश होते, उसके जीवन-प्रदीप को अपने नेत्रों के समक्ष बुझते हुए देख पाती। नहीं, वह नमकहराम नहीं हो सकती, इसीलिये वह रानी के हाथों से कुमार को लेने के बाद अविलम्ब एक गुप्त द्वार से भाग निकली। उसने नगर के एक देव-मन्दिर में आश्रय लिया। परन्तु उसके लिये जूनागढ़ में रहना बिल्कुल भी निरापद न था, क्योंकि सिद्धराज के लोग चारों ओर घूम-घूमकर कुमार की तलाश कर रहे थे। इसीलिये एक दिन उसने गुप्त रूप से जूनागढ़ को त्याग दिया और छद्मवेश में भयंकर गिर के जंगलों में से होकर बड़ी कष्टपूर्वक अलीधार नामक गाँव में पहुँची।

उस गाँव में दैवत नाम का एक आसार (अहीर) रहता था। अपने समाज में उसकी काफी प्रतिष्ठा थी और लोग उसे बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। लोगों को किसी प्रकार का सन्देह न हो, इस आशंका से वह कुमार को भलीभाँति ढक-ढाक कर उसी के घर ले गयी और कातर स्वर में बोली –

''भाई दैवत, तुम्हें छोड़कर दूसरा कोई भी ऐसा नहीं है, जो धन को सुरक्षित रख सके। इसे रखकर मेरे गुरुभार को थोड़ा हल्का करो। मुझे निश्चिन्त करो।'' यह कहते हुए उसने कुमार को अपनी आँचल से निकालकर उसकी गोद में डाल दिया और बोली, ''यह राव दायात का कुल-प्रदीप है। भगवान को साक्षी रखकर तुम्हें सौंप रही हूँ। देखो, मेरा यह धन नष्ट नहीं होना चाहिये। छोटी रानी ने 'सती' होने के पूर्व यह धन मेरे पास अमानत के रूप में रख दिया था। परन्तु यह बहुमूल्य रत्न मुझ गरीब के घर में छिपाकर रख पाना सम्भव नहीं है। इसकी तलाश में सिद्धराज के गुप्तचर चारों ओर घूम रहे हैं। हाथ में लेने के बाद अब इसकी रक्षा करने की शक्ति मुझमें नहीं है। इसीलिये काफी सोच-विचार करके मैं तुम्हारे पास आयी हूँ। मुझे ज्ञात है कि तुम्हारे जैसा महान् और विश्वासी व्यक्ति पूरे राज्य में दूसरा कोई नहीं है।''

''बस बहन, तुम निश्चिन्त रहो। दैवत का प्राण रहते इसे किसी प्रकार से हानि पहुँचने की सम्भावना नहीं है। मैं ईश्वर को साक्षी मानकर इसका भार लेता हूँ। वे ही मुझे इस भार को वहन करने की क्षमता प्रदान करेंगे।

– ३ –

''आसारनी, देख, मैं तेरे लिये एक अमूल्य रत्न लाया हूँ'' – कहते हुए दैवत कुमार को अपनी गृहिणी के पास ले गया। भगवती की प्रतिमूर्ति-स्वरूपा आसारनी ने मधुर स्वर में पूछा, ''मुझे अमूल्य रत्न देकर तुम्हें नींद तो आयेगी न?''

इसके बाद उसने कुमार को देखकर उसे जल्दी से गोद में उठा लिया और – ''किसका है यह रत्न? और कहाँ मिला तुम्हें?'' आदि प्रश्नों की झड़ी लगा दी।

''यह रत्न आज से तुम्हारा हुआ! तुम्हारे दो थे – भगवान की इच्छा से अब तीन हो गये!''

''नहीं, नहीं, आसार! हँसी मत करो। सच सच कहो, यह किसका बच्चा है?''

''इसके माँ-बाप अब इस संसार में नहीं हैं। यह रत्न राव दायात का है। जूनागढ़ सोलंकी सिद्धराज के हाथों में पड़ गया है। दायात युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए हैं। रानियाँ सती हो गयी हैं। इस बहन के चेष्टा से, कुल-दीपक के रूप में मात्र यह कुमार बच गया है। ईश्वर को साक्षी बनाकर मैंने इसका भार लिया है। आसारनी! देखना, किसी को पता न चले। अब इसकी जीवन-मृत्यु तुम्हारे ही हाथों में है।''

आसारनी एक प्रगाढ़ स्नेहपूर्ण चुम्बन के साथ शिशु को अपने हाथ में लेकर बोली, ''आसार, तुम निश्चिन्त रहो। यह भी मेरे दो अन्य सन्तानों के समान ही पालित होगा। यह भी मेरा हुआ।'' ... ''अहा बेटे, कितने दिनों से तुम्हें भरपेट दूध पीने को नहीं मिला!'' – यह कहकर उसने ज्योंही अपना एक स्तन कुमार के मुख से लगाया, त्योंही वह दूध पीने लगा। आमार की ओर देखते हुए, ''यह स्तन मैं कुमार के लिये रखूँगी और दूसरा स्तन मेरा बेटा पीयेगा!''

दैवत – ''परन्तु आसारनी! किसी को इसकी जरा भी भनक न लगे। सिद्धराज के लोग खोज में लगे हैं।''

आसारनी की आँखों में पानी आ गया। बोली, ''इसने मेरा दूध पीया है। अब मैं ही इसकी माँ हूँ। माँ कभी भी जान-बूझकर अपनी सन्तान का अनिष्ट नहीं कर सकती।''

– ४ –

पाँच वर्ष बिना किसी समस्या के बीत गये। कुमार अब दैवत के पुत्र तथा पुत्री के साथ खेला करता था। घर के बाहर मन्दिर के प्रांगण में खेलना उसे बड़ा प्रिय था। कानाफूसी होते-होते बात क्रमश: जूनागढ़ जा पहुँची कि राव

दायात का पुत्र जीवित है और आसार दैवत के घर में पल रहा है। एक दिन सहसा सैनिकों की एक टुकड़ी ने आकर गाँव को घेर लिया। सेनापति ने दैवत को बुलवाकर कहा, "दैवत, राव दायात का कुमार तुम्हारे घर में है। सीधे-सीधे उसे हमारे हाथों में सौंप दो।"

जरा भी घबराये-बिना दैवत बोला, "हाँ, यह बात सच है! कुमार मेरे घर में है। अभी ला देता हूँ।" यह कहकर वह अपने घर जाकर पत्नी से बोला, "आसारनी! भगवान की परीक्षा की घड़ी आ पहुँची है। तैयार हो न?"

आसारनी को पहले से ही सब ज्ञात हो गया था। कोई उत्तर दिये बिना ही वह अपने पुत्र का हाथ पकड़कर आसार के पास लाकर बोली, "जाओ, अपने पिताजी के साथ जाओ।" और आसार से बोली, "आसार, तुम्हारा हाथ जरा भी काँपना नहीं चाहिये, अन्यथा तुम धर्मच्युत हो जाओगे।"

"धन्य हो आसारनी!" दैवत और कुछ नहीं बोल सका।

"जय माँ जगदम्बे" – कहकर वह अपने पुत्र के साथ लिये चल पड़ा। मन-ही-मन वह केवल यही प्रार्थना कर रहा था, "अम्बे, इसी का भोग लेकर प्रसन्न हो जाओ। मेरे धर्म की रक्षा करो।"

जूनागढ़ के सेनापति के पास गाँव के अनेक लोग हाजिर थे। सभी दुखी होकर सोच रहे थे कि दैवत ने अपने प्राणों के भय से कुमार का समर्पण कर रहा है, नहीं तो वह झूठ बोलकर उसे अन्यत्र भी खिसका सकता था। सोचो, जहाँ तक हम लोगों की गवाही का सवाह है, तो क्या हम लोग भी क्या उसके लिये दो झूठ नहीं बोल सकते थे! हाय, दैवत की गल्ती से राव दायात का वंश निर्मूल हुआ।"

वे लोग इसी तरह भाँति-भाँति की कल्पनाएँ कर रहे थे। तभी उन लोगों ने देखा – दैवत अपने ही पुत्र को बड़े सुन्दर ढंग से सजाकर, स्वयं एक अपूर्व दैवी रूप धारण किये चला आ रहा है, तो उन लोगों के मुख से "सच्चा है, सच्चा" – पुकार के साथ नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी।

उन लोगों ने मन-ही-मन सोचा, "धन्य हो दैवत! धन्य है तुम्हारी गर्भधारिणी माँ! धन्य है तुम्हारा पुत्र!"

सेनापति के दिल में अब कोई सन्देह नहीं रहा। उसने सोचा, "यह सचमुच ही कुमार है! दैवत सत्यवादी है!" सबके समक्ष राजा की आज्ञा सुनाते हुए उसने उस निर्दोष सुकुमार बालक का सिर धड़ से अलग कर दिया।

दैवत के नेत्रों में केवल दो बूँद आँसू आये। उसका पूरा शरीर रक्तिम लाल हो उठा। परन्तु उसके मुख से एक बार 'हाय' तक नहीं निकली। अन्य सभी लोग फिर – "सच्चा है, सच्चा!" कहकर चीत्कार करते हुए रोने लगे। सबको यह बताकर कि दैवत की सत्यता के कारण ही उसे कोई दण्ड नहीं दिया जा रहा है – सेनापति ने प्रस्थान किया।

इसके बाद गाँव के आबाल-वृद्ध-वनिता सभी दैवत को घेरकर "धन्य हो दैवत! धन्य है तुम्हारी गर्भधारिणी माँ!" कहते हुए उसके अति-मानवीय त्याग की प्रशंसा करने लगे। तत्पश्चात् सभी लोग दैवत के घर पहुँचे। जो माँ होकर भी, किसी अन्य के पुत्र की रक्षा हेतु अपनी सन्तान को मृत्यु के हाथों में सौंप सकती है, उस देवी का दर्शन तथा पूजन किये बिना क्या उन्हें चैन मिल सकता था! "जय भगवती, जय जगदम्बे" की गुहार लगाते हुए सभी लोग जाकर उन महीयसी नारी के चरणों में प्रणत हुए। **धर्मो रक्षति रक्षितः** – जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म भी उसकी रक्षा करता है।

इस भीषण परीक्षा के दौरान दैवत केवल एक बार ही अधीर हुआ था – जब उसका पुत्र उसे जोरों से पकड़े हुए रो रहा था, "बाबा, मुझे घर ले चलो, माँ के पास ले चलो!"

– ५ –

देखते-ही-देखते और भी दस साल निकल गये। युवा राजकुमार को अब छिपाकर रख पाना कठिन लग रहा था। उसके नेत्रों से राजसी तेज, उसके उठने-बैठने-चाल-ढाल में अमित तेज का विकास दिखाई पड़ने लगा। दैवत की शिक्षा के साथ ही उसका तन और मन – दोनों ही हृष्ट-पुष्ट हो चुके थे। एक दिन वह दैवत के साथ खेत में काम कर रहा था। हल चलाते समय कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ ऊपर आयीं। उस स्थान को खोदने पर अजस्र मुद्राएँ निकलीं – किसी के द्वारा यत्न-पूर्वक संरक्षित किया हुआ धन बाहर निकल आया। उसे पाते ही दैवत समझ गया कि कुमार का भाग्योदय हो चुका है।

जूनागढ़ के सोलंकी लोग निश्चिन्त होकर सो रहे थे। उस दैव द्वारा प्रदत्त धन की सहायता से, दैवत इस मौके का लाभ उठाकर उन्हें चिरनिद्रा में सुलाने का प्रबन्ध करने लगा।

उसने अपनी पुत्री के विवाह को उपलक्ष्य बनाकर सौराष्ट्र के समस्त आसार (अहीर) लोगों का निमंत्रण भेजा। वे सभी दैवत की कन्या का विवाह देखने अलीधार में आ पहुँचे। उन दिनों लोग अपने अस्त्र-शस्त्र सर्वदा अपने पास रखते थे – खाली हाथ कहीं भी नहीं जाते थे। इस प्रकार बिना किसी प्रयास के ही दैवत ने एक विराट् सेना एकत्र कर ली। अपने सगे-सम्बन्धियों तथा सरदारों को धीरे-से इस विवाह के साथ होनेवाले दूसरे कार्य के विषय में भी बता दिया अर्थात् – वे लोग विवाह करने के लिये कन्या के साथ जूनागढ़ जायेंगे, वरपक्ष वहीं पर है; उस समय किले पर आक्रमण करके उस पर कब्जा करके राजकुमार को राजा बनाना है।

सभी लोगों ने इस बात पर सहमति प्रकट की। कन्या को साथ लेकर सभी लोग जूनागढ़ की ओर चल पड़े और

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचे)

स्वामी निश्चयानन्द (२)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

१९०१ ई. का साल था। स्वामीजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था और वे उन दिनों बेलूड़ मठ में निवास कर रहे थे। एक दिन वे दोपहर के भोजन के बाद थोड़ा-सा विश्राम कर रहे थे, तभी सेवक ने जाकर सूचित किया कि एक मराठी युवक उनके दर्शनार्थ आया हुआ है। वह युवक अन्य कोई नहीं – सूरज राव ही थे। स्वामीजी ने कहला भेजा, "ठीक है, अभी वह स्नान-भोजन आदि से निपट ले। मैं बाद में उसके साथ भेंट करूँगा।" स्वामीजी के सेवक ने नीचे आकर जब यह बात उनसे कही, तो वे बोले, "मैं स्नान और भोजन का प्रत्याशी नहीं हूँ। मैं बहुत दूर से आया हूँ। केवल स्वामीजी का दर्शन करने के लिये ही आया हूँ। उन्हें प्रणाम किये बिना मैं स्नान-भोजन आदि नहीं करूँगा। मैं यहीं बैठा रहूँगा।" युवक के इस दृढ़ संकल्प की बात जब स्वामीजी के कानों में गयी, तो वे नीचे उतर आये। स्वामीजी के आते ही युवक ने उनके चरणों में साष्टांग प्रणाम किया। रावजी की मनोकामना अब इतने दिनों बाद पूरी होने के कगार पर थी। स्वामीजी के दर्शन से कृतार्थ होकर वे हाथ जोड़े उनके चरणों में बैठे रहे। स्वामीजी ने आसन ग्रहण करने के बाद उनसे पूछा, "तुम क्या चाहते हो?" स्पष्ट उत्तर मिला, "कुछ भी नहीं चाहता। केवल आपका दास होना चाहता हूँ।" युवक की सरल उक्ति पर स्वामीजी ने सन्तुष्ट होकर उन्हें मठ में रहने की अनुमति दे दी।

अपने दीर्घ काल के स्वप्न को साकार देखकर रावजी के खुशी का ठिकाना न रहा। उन्हें मठ के पूजागृह में तथा स्वामीजी की सेवा का कुछ कार्य दिया गया। वे इन कार्यों को बड़े ही प्रेम तथा उत्साह के साथ सम्पन्न किया करते थे। इसके कुछ दिनों बाद रावजी के जीवन का बहुकाल वांछित शुभ दिन आ पहुँचा – स्वामीजी ने कृपा करके उन्हें संन्यास की दीक्षा प्रदान की। सैनिक सूरज राव को मानो नया जन्म प्राप्त हुआ – अब उनका गुरुदत्त नया नाम हुआ स्वामी निश्चयानन्द। शिष्य के दृढ़ निश्चय का स्मरण करके ही स्वामीजी ने उनका वैसा नामकरण किया था। निश्चयानन्द के परवर्ती जीवन में भी निःसन्देह उनके नाम की सार्थकता देखने को मिली थी।

मठ में निवास करने का महा सौभाग्य पाकर निश्चयानन्द जी-जान से गुरुसेवा तथा साधन-भजन में लग गये। मन्दिर में ठाकुर-सेवा के विविध कार्यों में भी उनकी प्रबल निष्ठा दीख पड़ती थी। गुरुदेव के घनिष्ठ संग में उनके भावी धर्मजीवन की बुनियाद दिन-पर-दिन मजबूत होती जा रही थी। निश्चयानन्द की गुरुभक्ति अनुकरणीय थी। स्वामीजी की व्यक्तिगत सेवा का अधिकार पाकर निश्चयानन्द स्वयं को कृतकृत्य मानते थे। उनकी अपूर्व गुरुभक्ति के उदाहरण स्वरूप एक घटना यहाँ स्मरणीय है –

उन्हीं दिनों मठ में एक गाय खरीदने का निर्णय लिया गया था। गाय को दक्षिणेश्वर के पास स्थित अरियादह के किसी ग्वाले के घर से बेलूड़ मठ लाना था। उस गाय को

पिछले पृष्ठ का शेषांश

पूर्व-निर्धारित योजना के अनुसार कन्यापक्ष नगर-प्राचीर के भीतर स्थित मन्दिर के पास जाकर ठहर गया। निर्धारित समय पर बारात आयी और खूब धूमधाम के साथ विवाह सम्पन्न हुआ। निमंत्रण पाकर नगर के सभी राज-कर्मचारी भी वहाँ उपस्थित थे। विवाह हो जाने के बाद, दैवत के संकेत पर आसारों के एक टोली ने कर्मचारियों को घेर लिया और दूसरी टोली ने कुमार की अधीनता में किले पर हल्ला बोल दिया। सोलंकियों में से कोई भी ऐसी घटना के लिये तैयार न था, अतः थोड़ी देर के युद्ध के बाद ही उन लोगों ने घुटने टेक दिये। जूनागढ़ एक बार फिर राव दायात के पुत्र के अधिकार में आ गया।

दैवत तथा अन्य आसारों ने मिलकर कुमार का राज्याभिषेक किया। उनका नाम हुआ राव नवघन। उन्होंने (सम्भवतः ८७४ ई. से) सौराष्ट्र पर एकछत्र राज्य किया। जब राव नवघन का अभिषेक हो रहा था, तब अपने संगियों के पूछने पर दैवत ने उसके जन्म तथा पालन-पोषण का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सभी लोग 'धन्य-धन्य' कह उठे। राव नवघन, आज सोलह वर्ष बाद अपने ही पिता के सिंहासन पर बैठ रहा था। राव भी इस आसार-दम्पति की दया के बारे में सोचकर और उनके अपूर्व तथा अतुलनीय त्याग से अवगत होकर बोल उठे, "नहीं, नहीं, दैवत आसार, तुम्हीं लोग मेरे सच्चे माता-पिता हो! तुम लोग मेरा त्याग मत करो। मेरे जीवन पर तुम्हारा अधिकार सदा अविचल रहेगा!"

लाने की जिम्मेदारी निश्चयानन्द को सौंपी गयी थी। उनके साथ स्वामीजी के ही एक अन्य शिष्य निर्भयानन्द तथा एक अन्य साधु को भी भेजा गया। तब तक बाली में विवेकानन्द-सेतु का निर्माण नहीं हुआ था। नाव से ही गंगा पार करनी पड़ती थी। स्वामीजी ने निश्चयानन्द को बारम्बार समझा दिया था, "गाय की रस्सी को हाथ से पकड़े रहना। इससे गाय भाग नहीं सकेगी।" अस्तु, निश्चित दिन निश्चयानन्द संगियों के साथ अरियादह गये और गाय को खरीद लिया। उन दिनों वर्षा का मौसम था और गंगाजी के प्रवाह में मानो उफान आया हुआ था। गंगा पार होने के लिये वे लोग गाय के साथ नाव में सवार हुए। जल का भयंकर प्रवाह देखकर गाय डर के मारे गंगा में ही कूद पड़ी। गाय की रस्सी तो निश्चयानन्द के हाथ में थी, अत: उन्होंने भी गंगा में छलाँग लगा दी। गंगा में उस समय भाटा का भयानक खिंचाव था। सभी लोग हतबुद्धि होकर केवल चिल्लाकर रह गये, किसी को कुछ सूझ नहीं रहा था। उस भीषण प्रवाह के खिंचाव से क्षण भर में ही गाय के साथ ही निश्चयानन्द भी अदृश्य हो गये। सम्भवत: निश्चयानन्द के कानों में उस समय स्वामीजी की ही वाणी गूँज रही थी, "गाय की रस्सी को हाथ से पकड़े रहना।" निश्चित मृत्यु के पथ पर बहकर जाते हुए भी उनका गुरुवाक्य में दृढ़ विश्वास तब भी अटूट था। जल में तैरते हुए भी एक हाथ से गाय की रस्सी को दृढ़तापूर्वक मुट्ठी में पकड़े हुए और दूसरे हाथ से गाय की आँखों तथा मुख पर पानी के छींटे मारते हुए वे उसे तट की ओर लाने की चेष्टा करने लगे। प्राणपण परिश्रम के बाद आखिरकार वे गंगा के पश्चिमी किनारे पर स्थित सालकिया के पास पहुँच कर तट पर चढ़ने में सफल हुए थे। परन्तु इसके बावजूद भयंकर कीचड़ को पार करके गाय को किनारे तक लाने की चेष्टा में उनके प्राण तक जाने की सम्भावना हो गयी थी। अस्तु, आसपास पड़े हुए बाँस-काठ आदि के टुकड़ों और कुछ अन्य लोगों की सहायता से आखिरकार वे गाय को तट तक लाने में सफल हुए थे। परन्तु हाथ की रस्सी अब भी उनके हाथ में ही थी – उसे उन्होंने किसी भी हालत में नहीं छोड़ा था, क्योंकि स्वामीजी का आदेश था, "गाय की रस्सी को हाथ से पकड़े रहना।" गाय को लेकर जब वे मठ में पहुँचे, तभी मठ के सब लोग निश्चिन्त हुए। इसके पूर्व ही निर्भयानन्द तथा उनके संगी साधु के मुख से सारा वृत्तान्त सुनकर मठ के सभी लोग बड़े उत्कण्ठित भाव से – उद्वेग तथा आतंक के साथ उनकी राह देख रहे थे। निश्चयानन्द को देखकर स्वामीजी परम आश्वस्त हुए, परन्तु सस्नेह उन्हें डाँटते हुए बोले, "तू मूर्ख के समान गाय के लिये अपने प्राण क्यों देने जा रहा था?" शिष्य ने हाथ जोड़कर उत्तर दिया था, "आपने जब मुझे गाय लाने को भेजा था, तो मैं गाय को बीच में ही छोड़कर कैसे चला आता?" इस पर स्वामीजी विनोदपूर्वक बोले, "ठीक है, ठीक है! मैंने जब तुम्हें गाय लाने को कहा था, तो तू भला उसे छोड़कर कैसे आ सकता था! तेरे लिये तो ऐसा कर पाना सम्भव ही नहीं था।" निश्चयानन्द की निष्ठा तथा कर्मक्षमता पर मुग्ध होकर स्वामीजी ने उस दिन उन्हें असंख्य आशीर्वाद दिये। धन्य हो निश्चयानन्द! और धन्य है तुम्हारी गुरुभक्ति! उनके लिये गुरुदेव का आदेश पालन ही अपने प्राणों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण था।

निश्चयानन्द की इस निष्ठापूर्ण भक्ति तथा गुरुसेवा के प्रसंग में एक अन्य दिन की बात याद आ जाती है। बेलूड़ का पानी उन दिनों पीने के लिये उपयुक्त न था। उन दिनों स्वामीजी के लिये हर रोज वराहनगर से एक विशेष नलकूप का जल लाया जाता था। निश्चयानन्द प्रतिदिन हर्षपूर्वक वह कार्य किया करते थे। एक दिन वे पानी से भरे हुए कलश को लेकर गंगा पार करके मठ में प्रवेश कर रहे थे, तभी मार्ग में उनकी एक पाश्चात्य भक्त-महिला से भेंट हो गयी। विदेशी महिला ने उनके प्रति सहानुभूति जताते हुए कहा, "Well Swami, why don't you engage a servant to fetch the water?' (महाराज, आप पानी लाने के लिये एक नौकर क्यों नहीं रख लेते?) इस अयाचित सहानुभूति से उनकी निष्ठापूर्ण गुरुभक्ति को प्रचण्ड आघात पहुँचा। नाराज निश्चयानन्द ने एक ही वाक्य में उत्तर दिया, "You are a foolish lady!" (तुम एक मूर्ख औरत हो!) तरुण संन्यासी से इस प्रकार डाँट खाकर उस महिला ने बड़े अभिमानपूर्वक स्वामीजी के पास जाकर इसकी शिकायत की। उन्होंने कहा, "स्वामीजी, मैंने ऐसा क्या गलत कह दिया कि जिस पर आपके उस छोकरे शिष्य ने मुझे मूर्ख कहकर अपमानित कर दिया?" स्वामीजी ने क्षुब्ध शिष्या को सस्नेह समझा दिया, "देखो, यह भारतवर्ष है। यहाँ गुरुसेवा को एक प्रमुख साधना माना जाता है। निश्चयानन्द की साधना-निष्ठा पर आघात होने के कारण ही उसने तुम्हें इस प्रकार की कटु बात कही है।" अस्तु, बाद में उक्त विदेशी महिला ने स्वयं को लज्जित महसूस किया और स्वामीजी के निर्देशानुसार उन्होंने निश्चयानन्द के पास जाकर बड़ा खेद व्यक्त किया। निश्चयानन्द उस समय स्वामी अद्वैतानन्द के साथ सब्जी के खेत में मिट्टी खोद रहे थे। उस समय वे केवल एक कौपीन मात्र पहने हुए थे और पसीने में लथपथ थे। क्षमा माँगनेवाली महिला सहसा वहीं आ पहुँची। सरल-स्वभाव निश्चयानन्द ने ऐसी स्थिति में थोड़े संकोच का अनुभव किया और उन्हें तत्काल यह कहकर जाने को कहा, "Yes, yes, I have pardoned you. Please go now!" (हाँ, हाँ, मैंने आपको क्षमा कर दिया है। आप कृपया अभी चली जाइये)।

निश्चयानन्द का जीवन पूरी तौर से विवेकानन्द-गतप्राण

था। बीच-बीच में इसकी ऐसी अभिव्यक्ति हो जाती कि वे राम-गतप्राण हनुमानजी के ही सुयोग्य उत्तराधिकारी प्रतीत होने लगते। एक बार भक्त-भैरव महाकवि गिरीशचन्द्र के घर एक घटना हो गयी। निश्चयानन्द गिरीश बाबू के घर गये थे। वहाँ लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द) भी उपस्थित थे। तब तक निश्चयानन्द का लाटू महाराज के साथ साक्षात् परिचय नहीं हो सका था। गिरीशबाबू ने अपनी स्वाभाविक विनोदपूर्ण शैली में लाटू महाराज के साथ निश्चयानन्द का परिचय कराते हुए कहा, "देखो, यह स्वामीजी का एक सिपाही चेला है।" लाटू महाराज भी कम रसिक न थे। वे भी चिढ़ाने के भाव से कह उठे, "अरे, सब पर अजीब सनक सवार है! स्वामीजी का चेला बन गया! क्या इसे गुरु बनाने के लिये दूसरा कोई आदमी नहीं मिला!" इसके बाद वे निश्चयानन्द की ओर उन्मुख होकर थोड़े व्यंग्य-मिश्रित स्वर में कहने लगे, "तुम स्वामीजी के चेले बने हो! स्वामीजी के बारे में तुम क्या जानते हो? तुमने उनमें ऐसा कौन-सा गुण देखा? तुम्हें गुरु बनाने के लिये दूसरा कोई आदमी नहीं मिला क्या?"

यह सब सुनकर निश्चयानन्द मानो उत्तेजना से उबल पड़े। उन्होंने कठोर दृष्टि से लाटू महाराज की ओर देखते हुए क्रोधपूर्वक पूछा, "आपने किसको गुरु बनाया है? आपने गलती की, जो स्वामीजी को गुरु नहीं बनाया!" इधर गिरीश बाबू हल्के से हँसते हुए इस नाटक का मजा ले रहे थे। खैर गिरीश बाबू ने यह नाटक अधिक देर नहीं चलाया। उन्होंने लाटू महाराज का परिचय प्रकट कर दिया। तब निश्चयानन्द लाटू महाराज के चरणों में दण्डवत् गिर पड़े और उनसे बारम्बार क्षमा याचना करने लगे। लाटू महाराज चरणों में गिरे निश्चयानन्द की पीठ थपथपाते हुए बोले, "हाँ, योग्य गुरु का शिष्य ही तो है! यही स्वामीजी का ठीक-ठीक चेला है। ऐसा ही तो होना चाहिये।" उस दिन लाटू महाराज ने निश्चयानन्द को खूब आशीर्वाद दिया था। इस घटना का स्मरण करते हुए परवर्ती काल में निश्चयानन्द कहा करते थे, "परीक्षा लेने के लिये ही लाटू महाराज बीच-बीच में ऐसा किया करते थे।"

स्वामीजी के निकट साहचर्य का सुयोग पाकर निश्चयानन्द ने उनसे अपने व्यक्तिगत जीवन के लिये बहुत-सा मार्गदर्शन भी प्राप्त कर लिया था। वे केवल मार्गदर्शन पाकर ही सन्तुष्ट नहीं हो गये थे, अपितु अपने परवर्ती जीवन में उन्होंने जी-जान से उन समस्त निर्देशों का अक्षरश: पालन करने का प्रयास किया था। एक बार संध्या के समय स्वामीजी अपने कमरे में एकाकी बैठे हुए थे। निश्चयानन्द को निकट देखकर वे उन्हें बुलाकर बोले, "देख निश्चय, साधु होकर दूसरे के गले का भार होना उचित नहीं है। किसी भी व्यक्ति का अन्न ग्रहण करने पर उसे प्रतिदान देना पड़ता है। साधु-समाज दूसरों का अन्न खा-खाकर जड़ हो गया है। दूसरों के ऊपर निर्भर बने रहने के कारण उनकी उन्नति होने के स्थान पर घोर अवनति हो गयी है। तुम कभी भी ऐसा मत करना। यदि कोई काम न भी कर सको, तो भिक्षा माँगकर एक पैसे का घड़ा खरीद लेना और सड़क के किनारे बैठकर प्यासे राहगीरों को पानी पिलाना। प्यासे को पानी पिलाना भी एक महान् कार्य है। निष्क्रिय रहकर दूसरे का अन्न खाना अत्यन्त निन्दनीय है।" स्वामीजी की इस शिक्षा को निश्चयानन्द ने कितना महत्त्व प्रदान किया था – यह उनके परवर्ती जीवन की समीक्षा करने से ही समझा जा सकता है। एक तरह से कहा जाय, तो उनका सम्पूर्ण जीवन ही स्वामीजी के उपर्युक्त आदर्श का एक जीवन्त उदाहरण स्वरूप था।

१९०१ ई. में जब जापानी विद्वान् ओकाकुरा स्वामीजी को जापान ले जाने के लिये भारत आये, तब निश्चयानन्द बेलूड़ मठ में ही थे। ओकाकुरा ने कुछ दिन बेलूड़ मठ में ही निवास किया था। स्वामीजी का स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण आखिरकार उनका जापान जाना नहीं हो सका था। इस काल की अनेक स्मृतियाँ परवर्ती काल में निश्चयानन्द के मुख से सुनने को मिला करती थीं। कभी उन्होंने प्रसंग उठने पर बताया था – एक बार जापान के कुछ प्रतिनिधियों ने मठ में आकर स्वामीजी के सामने प्रस्ताव रखा कि वे लोग उन्हें जापान ले जाने के लिये बड़े आग्रही हैं और उनका सारा व्ययभार जापान सरकार सानन्द वहन करेगी। केवल स्वामीजी का व्यक्तिगत खर्च ही नहीं, अपितु उनकी इच्छानुसार भारत में होनेवाले किसी भी कार्य के लिये जापान सरकार आर्थिक सहायता देने को तैयार है, बशर्ते वे जापानी सरकार के अधीन होकर सारे कार्य सम्पन्न करें। स्वामीजी जापानियों के इस प्रस्ताव पर बड़े क्षुब्ध हुए और उन लोगों को सीधे मना कर दिया। उनकी इस असहमति का कारण पूछे जाने पर स्वामीजी ने उस दिन निश्चयानन्द को बताया था, "देख निश्चय, विवेकानन्द क्या कोई बाजार की चीज है, जो उसे रुपये देकर खरीदा जा सकता हो?"

इसी प्रसंग में एक मजेदार घटना भी यहाँ उल्लेखनीय है। इस घटना में गुरु की आज्ञापालन में तत्पर निश्चयानन्द की एक झलक मिल जाती है। स्वामीजी के जापान जाने से मना कर देने पर ओकाकुरा के अभिमान को बड़ा ठेस पहुँचा था। एक दिन उन्होंने कह डाला, "हम लोग आपके लिये इतने सारे महँगे-महँगे उपहार लेकर आये थे! आप जापान नहीं जायेंगे, इस बात से हमारे मन को बड़ा आघात पहुँचा है।" स्वामीजी 'महँगे-महँगे उपहार' की बात सुनकर तत्काल बोल उठे, "बुला तो सिपाही* को! जापान से यह सब जो कीमती कबाड़ लाया है, यह सब ले जाकर गंगा में फेंक

आ।'' निश्चयानन्द ने तत्काल ही ''जो हुकुम कहा'' और जापान से लाई गई उपहार की वस्तुएँ उठाकर गंगा में बहाने के लिये दौड़ पड़े। परन्तु सहसा स्वामी सारदानन्द ने उनका रास्ता रोक लिया। वे निश्चयानन्द को मना करते हुए बोले, ''अरे, ठहर-ठहर ! इतनी अच्छी-अच्छी चीजें गंगाजी में मत फेंकना।'' निश्चयानन्द गरज उठे, ''यह नहीं हो सकता। आप जाइये, स्वामीजी का हुकुम ले आइये। हुकुम कैंसिल करवाइये, नहीं तो हम जरूर फेंक देंगे।'' आखिरकार सारदानन्दजी ने स्वामीजी के पास जाकर उन्हें कुछ समझाया। इस पर सम्भवत: स्वामीजी बोले थे, ''वे लोग अपना सामान ले जायँ, अन्यथा वह सब गंगा में ही विसर्जित किया जायगा।'' अस्तु, आखिरकार वे सब मूल्यवान चीजें गंगा में नहीं फेंकी गयीं। इस घटना से जहाँ एक ओर निश्चयानन्द की निष्ठापूर्ण आज्ञाकारिता तथा दृढ़ व सरल चरित्र का चित्र प्रस्फुटित हो उठता है, वहीं दूसरी ओर उनके असाधारण गुरुदेव का 'असाधारण त्याग' तथा 'संन्यास के आदर्शों का कठोरता से पालन' ही अपूर्व रूप से व्यक्त होता है।

निश्चयानन्द के चरित्र में सैनिक-सुलभ तेज तथा आज्ञाकारिता – इन दो गुणों ने समान रूप से अभिव्यक्त होकर उनके जीवन को बड़ा ही विशेषता-युक्त कर दिया था। उनकी सारी शूरता, वीरता तथा कर्मठता आखिरकार जाकर उनकी असाधारण गुरुभक्ति में विलीन हो जाती थी। निश्चयानन्द के चरित्र का यही एक सुनिश्चित सौन्दर्य था। एक दिन की घटना है – गुरुभाई बोधानन्द किसी बात को लेकर उन्हें खूब चिढ़ा रहे थे। वीर जवान निश्चयानन्द भी असहिष्णु होकर 'युद्धं देहि' के भाव से उनके पीछे दौड़ने लगे। यह तरुणाई की तरंग तथा प्रेम-कलह मात्र ही था। तो भी एक बड़ा मधुर चित्र है। रुष्ट निश्चयानन्द दौड़ रहे थे – मानो बोधानन्द को समुचित सजा दिये बिना वे किसी भी प्रकार शान्त नहीं होंगे। और बोधानन्द भी दौड़ते-दौड़ते परेशान हो गये और अन्त में जाकर उन्होंने स्वामीजी के कमरे में आश्रय लिया। परन्तु निश्चयानन्द भी नाछोड़-बन्दा थे। वे स्वामीजी के दरवाजे पर जाकर ठहर गये और देख रहे थे कि बोधानन्द भला कैसे बच सकेंगे ! इसी बीच बोधानन्द एक भयभीत बालक के समान जाकर स्वामीजी की खाट के नीचे छिप गये। स्वामीजी कमरे के भीतर ही थे। उन्होंने देखा कि उत्तेजित निश्चयानन्द दरवाजे पर खड़ा होकर क्रोध से फुफकार रहा है और बेचारे बोधानन्द ने भय के कारण गुरुदेव के चरणों में आश्रय लिया है। स्वामीजी अपने इन दो युवा शिष्यों का खेल देखकर हँसते-हँसते लोटपोट हो गये। उन्होंने निश्चयानन्द को बुलाकर कहा, ''दैख निश्चय, तेरे भय से हरिपद मेरी खाट के नीचे आकर छिपा हुआ है ! भयभीत तथा शरणागत को मारना नहीं चाहिये। यह मेरा शरणागत है। इस बार उसे छोड़ दे। अब उसे और कुछ न कहना !'' निश्चयानन्द ने भी ''जो हुकुम'' – कहा और हल्के से हँसकर स्वामीजी के चरणों में प्रणाम करके वहाँ से खिसक गये।

निश्चयानन्द का मराठा शरीर था, इसीलिये शिवाजी के प्रति उनका एक स्वाभाविक आकर्षण था। किसी भी प्रसंग में जब कभी शिवाजी के नाम का उल्लेख होता, तो निश्चयानन्द उत्साहपूर्वक उनकी शूर-वीरता, देशात्म-बोध, धर्म-प्राणता तथा नैतिक दृढ़ता की प्रशंसा करने लगते। लोकमान्य तिलक को भी वे बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा करते थे। १९०१ ई. में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन के उपलक्ष्य में तिलक जब कलकत्ते आये, तो बेलूड़ मठ में आकर उन्होंने स्वामीजी का दर्शन भी किया था। निश्चयानन्द तब मठ में ही थे। तिलक के प्रसंग में वे कहा करते थे, ''तिलक पहले केवल महाराष्ट्र के ब्राह्मणों के लिये ही विभिन्न प्रकार के कार्य किया करते थे। स्वामीजी ने उन्हें समझा दिया कि एक राष्ट्र को ऊपर उठाने के लिये राष्ट्र के केवल एक अंश को ऊपर उठाने से काम नहीं चलेगा। गरीब, दुखी तथा निम्न श्रेणी के लोगों को ऊपर उठाये बिना राष्ट्र नहीं उठ सकेगा। स्वामीजी के सम्पर्क में आकर ही तो तिलक के मन में बदलाव आया। इसके बाद ही उन्होंने निम्न श्रेणी के लोगों के लिये भी विभिन्न प्रकार के कार्य करना आरम्भ किया।''

स्वामी विवेकानन्द के लीलावसान के बाद निश्चयानन्द के भी जीवन-नाट्य में पट-परिवर्तन हुआ। गुरुदेव के तिरोभाव से मानो सारा संसार ही उनके लिये अन्धकारमय हो गया। १९०२ ई. के ४ जुलाई को स्वामीजी ने देहत्याग किया था। उसके कुछ दिन बाद ही एक दिन शाम को स्वामी सारदानन्द शोकार्द्र चित्त के साथ मठ-भवन की पहली मंजिल के (मठ की ओर के) आंगन में बैठे हुए थे। सहसा निश्चयानन्द भी वहाँ आये और चुपचाप थोड़ी देर बैठे रहे। कुछ देर बाद उन्होंने सहसा भरे हुए गले के साथ सारदानन्दजी से निवेदन किया, ''मैं जिनके सम्पर्क से यहाँ आया था, जब वे ही चले गये, तो फिर मैं अब यहाँ रहना नहीं चाहता। मैंने यहाँ से चले जाने का निश्चय कर लिया है।'' सारदानन्दजी ने शोक-सन्तप्त निश्चयानन्द को तरह-तरह से समझाने का प्रयास किया, काफी सांत्वना दी। फिर पूछा, ''तुम्हारी किधर जाने की इच्छा है?'' निश्चयानन्द बोले, ''दोनों नेत्र जिधर भी ले जायँ।'' तो भी सारदानन्दजी ने उनसे काफी अनुरोध किया और अन्त में बोले, ''कम-से-कम एक महीने और मठ में ही रह जाओ, नहीं तो लोग तरह-तरह की बातें सोचेंगे।''

* स्वामीजी अपने इन सैनिक शिष्य को कभी-कभी 'सिपाही' कहकर बुलाते थे। निश्चयानन्द भी गुरुमुख से यह सम्बोधन सुनकर गौरव का अनुभव करते थे।

अस्तु, आखिरकार वे केवल एक महीना मठ में रहने को राजी हो गये और जिस दिन ठीक तीस दिन पूरा हुआ, ठीक उसी दिन परिव्राजक के वेश में मठ से प्रस्थान कर गये। निश्चयानन्द इसके बाद फिर कभी मठ में नहीं आये – बंगाल से भी यही उनकी अन्तिम विदाई थी।

इसके बाद परिव्राजक निश्चयानन्द परिव्राजक के रूप में विभिन्न तीर्थों का भ्रमण करने लगे। वे जहाँ कहीं भी अनुकूल परिवेश देखते, वहीं थोड़े दिन ठहर कर ध्यान-तपस्या आदि में लग जाते। अब से माधुकरी ही शरीर-धारण के लिये उनका एकमात्र अवलम्बन हुआ। इसी प्रकार रमता साधु के रूप में घूमते हुए १९०३ ई. के कुम्भ-मेले में वे हरिद्वार जा पहुँचे। वहाँ भी वे माधुकरी मात्र का आश्रय लेकर साधु-दर्शन, साधुसेवा तथा साधन-भजन करते हुए आनन्दपूर्वक दिन बिताने लगे। उनका अति मलिन तथा फटे-पुराने वस्त्र आदि देखकर किसी में भी यह समझने की सामर्थ्य न थी – असंख्य संन्यासी-फकीरों के बीच अधिकांश लोग उन्हें एक साधारण भिक्षाजीवी वैरागी ही समझा करते थे। एक दिन एक युवक साधु के साथ उनकी विविध विषयों पर चर्चा हो रही थी। उसी दौरान स्वामी विवेकानन्द की किसी उक्ति का प्रसंग उठा। उन अपरिचित तरुण संन्यासी की बातचीत से निश्चयानन्द को यह समझते देर न लगी कि ये भी अवश्य ही स्वामीजी के ही कोई कृपाप्राप्त शिष्य हैं। इतने दिनों के बाद सुदूर तीर्थक्षेत्र में अपने मन का मानुष पाकर निश्चयानन्द परम आनन्दित हुए। अपने ही भाव का व्यक्ति मिल जाने से नि:संग निश्चयानन्द ने प्राण खोलकर स्वामीजी की चर्चा करने लगे। वे क्रमश: उस युवक साधु के प्रति आकृष्ट होते रहे और वे उत्तरोत्तर उन्हें अपने व्यक्ति प्रतीत होने लगे। कौन जाने उस समय निश्चयानन्द को श्रीरामकृष्ण के प्रिय एक भजन की कुछ पंक्तियों की स्मृति आयी थी या नहीं?

अपने मन का मानुष जो जन,
नेत्रों से जाता पहचाना।
मन का मानुष कहाँ मिलेगा,
होते बस दो-एक जना।।
कन्था जीर्ण काँख में होगा,
बोलेगा ना कोई बात,
उल्टे पथ पर आना-जाना,
जो करता होगा दिन-रात।
वही भाव का व्यक्ति हमारा,
उल्टे पथ पर चलनेवाला।।

'उल्टे पथ' पर निश्चयानन्द मिले इस अपने 'भाव के मानुष' का नाम था – स्वामी कल्याणानन्द और वे भी स्वामीजी के एक प्रिय शिष्य थे।

कल्याणानन्द अपने गुरुदेव के निर्देशानुसार १९०१ ई. के जून माह से हरिद्वार के निकट कनखल में एक सेवाश्रम की स्थापना करके रुग्ण तथा वृद्ध साधुओं की सेवा में लगे हुए थे। निश्चयानन्द के हृदय में भी उन दिनों दिन-रात अपने गुरुदेव की वही वाणी गूँज रही थी, "यदि कोई बड़ा कार्य न भी कर सको, तो एक पैसे की भिक्षा माँगकर मिट्टी का एक घड़ा खरीद लेना और सड़क के किनारे बैठकर प्यासे राहगीरों को पानी पिलाना। प्यासे को पानी पिलाना भी एक महान् कार्य है।" कल्याणानन्द के साथ घनिष्ठता हो जाने से अब इतने दिनों बाद गुरुदेव से प्राप्त वह मंत्र की साधना के लिये उपयोगी मानो एक उत्कृष्ट पथ मिला। इसी पथ की खोज में वे इतने दिनों से भ्रमण कर रहे थे। अब उनके भ्रमण को विराम मिला और निश्चयानन्द कनखल के सेवाश्रम में आकर कल्याणानन्द के सहयोगी हुए। उस समय (१९०३ ई.) से लेकर जीवन का बाकी सम्पूर्ण काल – यह सेवाश्रम ही निश्चयानन्द का साधन-क्षेत्र बना।

निश्चयानन्द जैसे सुयोग्य गुरुभाई को सहायक के रूप में पाकर कल्याणानन्द के आनन्द की सीमा न रही। वस्तुत: इसी काल से सेवाश्रम के कार्य का प्रसार आरम्भ हुआ था। नव-स्थापित सेवाश्रम की पर्णकुटीर में अपना निवास-स्थान तथा रुग्ण-पीड़ित नारायणों की सेवा की सारी व्यवस्था करके भी, दोनों गुरुभाई हरिद्वार तथा ऋषीकेश के साधुओं की कुटियाओं में घूम-घूमकर वृद्ध तथा रुग्ण साधुओं की परिचर्या किया करते थे। निश्चयानन्द प्रतिदिन बड़े सबेरे दवा का एक बाक्स तथा पथ्य आदि के लिये कुछ वस्तुओं की एक पोटली कन्धे पर लटकाये कनखल से अट्ठाइस किलोमीटर पैदल जाकर ऋषीकेश के साधुओं की सेवा किया करते थे। असमर्थ लोगों को अपने हाथ से पथ्य पकाकर खिलाने, सबको समुचित दवा देने और यथावश्यक सेवा आदि करने के बाद दोपहर को वे माधुकरी भिक्षा करने जाते या फिर क्षेत्र में भिक्षा पा लेते। अपराह्न के समय वे एक बार फिर सबकी खोज-खबर लेने के बाद कनखल लौट आते। दिन-पर-दिन धूप-वर्षा, सर्दी-गर्मी – सब कुछ सहते हुए प्रतिदिन छप्पन किलोमीटर पैदल चलकर स्वयं को इस सेवायज्ञ में नियोजित रखते। इसके अतिरिक्त दवा तथा पथ्य आदि के लिये धन तथा वस्तुओं को एकत्र करने का काम तो था ही।

रोगियों के मल-मूत्र से लेकर उनकी सेवा के सारे कार्य दोनों गुरुभाई परम श्रद्धा के साथ स्वयं ही किया करते थे। फिर किसी साधु का देहान्त हो जाने पर दोनों मिलकर उसके शव को ढोकर गंगा की नीलधारा में जल-समाधि भी दे आते थे। प्रचण्ड धूप से उत्तप्त बाँध के पत्थरों पर से नंगे पाँव केवल दो व्यक्तियों के लिये एक भारी शव को वहन करते हुए चलना कितना कष्टकर होता होगा, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। **❖ (क्रमश:) ❖**

दूसरों के गुणों को बढ़ा-चढ़ाकर देखो

स्वामी निर्वाणानन्द

''एक साधु नये ब्रह्मचारियों के दोष देखकर महाराज (निर्वाणानन्दजी) के समक्ष उनका उल्लेख कर रहे थे। वे बोले, ''ऐसे हजारों दोष करने पर भी उनकी (ईश्वर की) कृपा-कटाक्ष से सब कट जायेगा। तुम इन दोषों को इतना बड़ा करके क्यों देख रहे हो? उन लोगों (श्रीरामकृष्ण के शिष्यों) की दृष्टि ही भिन्न थी। वे लोग सोचते – दोष किया है, तो क्या हुआ? ईश्वर की थोड़ी-सी कृपादृष्टि होते ही सारे दोष क्षण भर में ही छिन्न-भिन्न हो जायेंगे।

''दृष्टिकोण को बदलने का एक अन्य उपाय भी है – किसी में कोई गुण पाते ही उसे बड़ा करके देखना। इसका अभ्यास करते-करते मन की अवस्था बदल जायेगी। तब दोषदृष्टि चली जायेगी। सबके गुण देख सकोगे। इससे शान्ति मिलेगी। जब तुम दोष देखते हो, तो तुम्हारे मन की अवस्था क्या होती है? किसी का दोष देखते समय तुम अपने मन में दोषाकार वृत्ति उत्पन्न करके उसी से अपने मन को रंजित कर लेते हो। इससे तुम्हारे मन में बुरे संस्कार पड़ जाते हैं। बच्चे पतंग उड़ाने के लिये चरखी में धागा लपेट कर रखते हैं। उसमें कुछ धागा लाल रहता है, कुछ नीले रंग का और कुछ सफेद – कई रंग के धागे होते हैं। इसी प्रकार मन में भी अनेक प्रकार की वृत्तियाँ रहती हैं। बाहर से वे भले ही न दिखाई दें, पर यथासमय वे बाहर निकल पड़ती हैं। दृष्टिकोण अच्छा हो, तो मन में भले संस्कार होंगे, जो भगवान की ओर ले जायेंगे। इसीलिये किसी के दोष देखने के पहले विचार कर लेना कि दूसरों के दोष देखने से तुम्हारा क्या होगा!

''बनारस में एक बार मैं हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द) के साथ में मूवी (मूक फिल्म) देखने गया था। तब तक टाकी (ध्वनियुक्त सिनेमा) नहीं आया था। फिल्म का नाम था – लेस मिजरेबल्स*। उसमें दिखाया गया था कि एक अपराधी एक बिशप का मूल्यवान दीपदान चोरी करके ले गया था। पुलिस ने उसे देखा और उसके हाथ में बिशप के यहाँ से चोरी किया हुआ दीपदान देखकर उसे गिरफ्तार कर लिया। उसे पकड़कर बिशप के यहाँ ले जाया गया। बिशप ने उसे देखते ही स्नेहपूर्वक कहा, ''भाई, मैंने तुम्हें जो उपहार दिये थे, उनमें से एक यहीं छूट गया है।'' यह कहते हुए उन्होंने अपने पास बची हुई एक अन्य दीपदानी भी उसके हाथ में दे दी। कैसा प्रेमपूर्ण दृष्टिकोण है! इससे उस अपराधी के मन में परिवर्तन आया। महान् बिशप के दृष्टिकोण को वह समझ गया, उसे उनके हार्दिक प्रेम का अनुभव होने लगा। उसके जीवन का रूपान्तरण हो गया।

''देखो, भगवान को पुकारने से पवहारी बाबा का जीवन कैसा हो गया था! उनके आश्रम में एक चोर आया। चोरी करते समय पकड़े जाने के भय से वह सारा सामान वहीं छोड़कर भागने लगा। पवहारी बाबा भी उसके पीछे-पीछे दौड़े। वे उन वस्तुओं को चोर के हाथों में सौंपना चाहते थे। साधु के सम्पर्क में आकर आखिरकार वह चोर भी साधु हो गया। जो लोग (अनुभूति की) उच्च अवस्था में रहते हैं, उनका ऐसा ही दृष्टिकोण होता है। साधक, अभ्यास के द्वारा उसे अर्जित करेगा। सिद्ध पुरुष के लक्षणों को अपने जीवन में उतारने के प्रयास को ही साधना कहते हैं।'' ...

''किसी अन्य की निन्दा न करना। ऐसा कर पाने से ही आनन्द में रहोगे। किसी की भी आलोचना मत करना। कौन भला है और कौन बुरा – यह देखने की जरूरत नहीं। यदि दस वर्ष ऐसा कर सको, तो इसका फल देख सकोगे। जो लोग दूसरों के दोष देखते थे, श्रीमाँ (सारदा देवी) उनके मुख की ओर देख तक नहीं पाती थीं।

''दूसरों के विषय में चर्चा मत करना। इस जगत् में किसी से कुछ कहने पर, वह भी कुछ कहेगा। यह सब करने से तुम लोग इस संसार में ही रह जाओगे। ठाकुर इस जगत् में रहकर भी इस जगत् के परे थे। ठाकुर को पाने के लिये तुम्हें भी इस जगत् के परे जाना होगा। सर्वदा ठाकुर का चिन्तन करना और शान्त रहना, धैर्य रखना, क्रोध मत करना – ताकि लोग तुम्हें देखकर सीखें कि सहनशीलता किसे कहते हैं, धैर्य किसे कहते हैं, शान्तता किसे कहते हैं!''

(ब्रह्मानन्द-सेवक-निर्वाणानन्द, बँगला ग्रन्थ, पृ. २६९-७०)

* फ्रांसीसी लेखक विक्टर ह्यूगो के सुप्रसिद्ध उपन्यास पर आधारित
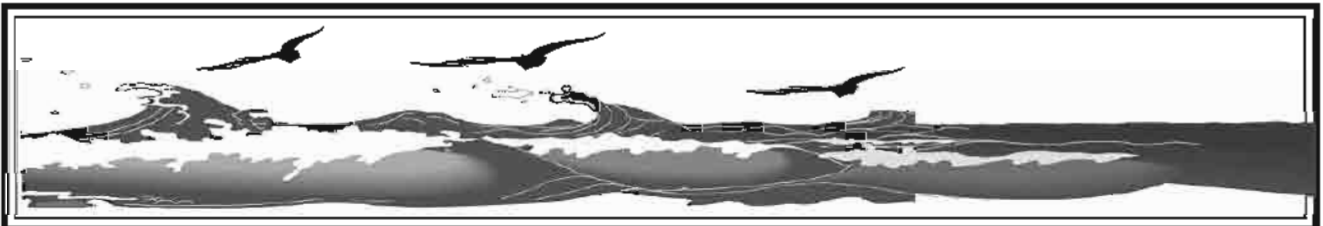
कर्मयोग – एक चिन्तन (५)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

जब तक व्यक्ति जीवित है, तब तक उसका अहंकार बना रहता है। अगर व्यक्ति मूर्च्छित भी हो, तब भी उसका अहंकार भीतर बना रहता है। मैंने सुना है कि अमेरिका में एक लड़की २५ वर्ष कोमा में थी। यदि व्यक्ति अहंकार शून्य हो जाय, तो शरीर छूट जायेगा। जब हम सो रहे हैं, तब भी सभी शारीरिक क्रियायें चल ही रही हैं, शरीर के अंग-प्रत्यंग काम कर रहे हैं। हम सोये हैं, वहाँ हमारा कर्ता नहीं है, किन्तु सूक्ष्मरूप से जो अहंकार है, उसमें शरीर की ये सब क्रियाएं हो रही हैं। यदि यह अहंकार समाप्त हो जाय, तो शरीर की ये क्रियायें बंद हो जायेंगी। एकबार भगवान श्रीरामकृष्णदेव निर्विकल्प समाधी में गये। आधुनिक चिकित्सा में शिक्षित डॉ. सरकार, उस समय के प्रख्यात चिकित्सक थे, वे वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने स्टेटेस्कोप लगाकर देखा, तो श्रीरामकृष्ण देव की हृदयगति बंद हो गयी थी। नाड़ी को देखा, तो नाड़ी की गति भी बंद हो गयी थी। यह इसलिये कि उस समय उनका अहंकार लुप्त हो गया था। किन्तु जब वे समाधी से लौटकर इस धरातल पर आये, तब उनका अहं पुन: देह से जुड़ गया और वे जीवित अवस्था का बोध करने लगे। जब तक वे निर्विकल्प समाधी में थे, उनका अहंकार पूर्णत: लुप्त था। जब तक अहं रहता है, वह अहं किसी-न-किसी कर्म से जुड़ा रहता है। किसी-न-किसी कर्म से जुड़ेगा तो उसका फल होगा, क्योंकि अहं-बुद्धि उत्तमपुरुष में ही संभव है, मैं ही कर्म का कर्ता हूँ तो उस कर्म का फल मुझे अवश्य मिलेगा। उसमें कोई अपवाद नहीं होगा। अपवाद कब होगा? – कर्मयोग के द्वारा। कर्म के संबंध में ये बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी पड़ेगी कि कर्म का संबंध कर्ता से है, और कर्ता का अर्थ है अहं-बुद्धि। अहंकार का भाव सबसे पहले हमको व्यक्ति बनाता है – मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं युवक हूँ, मैं युवती हूँ। यदि यह अहंभाव न जुड़ा हो, तो यह बोध ही नहीं हो सकता कि मैं पुरुष हूँ या स्त्री हूँ या युवक-युवती हूँ, लड़का-लड़की हूँ। यह सब अहं के कारण होता है और यह अहं हमें कर्मों में बाँधता है।

कर्मयोग को जानने, समझने के लिये कर्म के इस सिद्धान्त को ठीक तरह से जानना होगा। जिस दिन हम कर्ता बने, क्रिया से हमारा संबंध जुड़ा, तो कर्ता बनते ही व्यक्ति भोक्ता हो जाता है तथा उसके परिणाम को वह रोक नहीं सकता। जैसे हम भोजन करते हैं। उसमें मिष्ठान्न परोसा गया, वह मिष्ठान्न मैंने खा लिया। अगर कोई मधुमेह का रोगी है, तो उसने जान-बुझकर अधिक मिठाई खा ली, तो उसके परिणामस्वरूप उसकी शर्करा बढ़ जायेगी। उस परिणाम को वह रोक नहीं सकता। कर्म के कर्ता होने पर हुए कर्म के परिणाम का भोक्ता हमें होना ही पड़ेगा। और जब भोक्ता होना पड़ेगा तो सुख और दु:ख दोनों भोगना पड़ेगा। ऐसा हो नहीं सकता की कर्ता और भोक्ता हम बनें और केवल सुख का ही हम उपयोग करें और दुख नहीं मिले। सुख के साथ दु:ख अग्नि में ताप के समान जुड़ा रहता है। कर्ता और भोक्ता उत्तम पुरुष में होगा। जब कर्ता और भोक्ता मैं ही हूँ, तो मैं कर्मफल का दास भी हूँ। इसलिये हम चाहें या न चाहें हमें सुख-दुख को भोगना ही पड़ेगा। दूसरे शब्दों में हम संसार के बन्धन से बच नहीं सकते।

किन्तु गीता हमसे कहती है कि तुम कर्म करते हुए ही नैष्कर्म्यसिद्धि की प्राप्ति कर सकते हो। कर्म करते हुए एक ऐसी अवस्था की प्राप्ति कर सकते हो, जिसमें न तुम कर्ता रहोगे, न तुम भोक्ता रहोगे। तो क्या मृत्यु हो जायेगी? नहीं, जैसे जीवित रहते हैं, वैसे ही रहेंगे।

गीता का एक मौलिक सिद्धान्त है – तुम सृष्टि को बदलने की चेष्टा मत करो, अपनी दृष्टि को बदलने की चेष्टा करो। दृष्टि बदली कि सृष्टि बदल जाती है। कैसे? यह घड़ी मेरे सामने रखी है। यह घड़ी एक भक्त ने मुझे दी है। भक्त ने जब मुझे ये घड़ी नहीं दी थी, तब भी ये घड़ी थी। जब घड़ी मेरे पास आयी तब भी उसका स्वरूप घड़ी ही था। पर जब मेरे पास आयी तो यह मेरी घड़ी हो गयी। और मेरी घड़ी हो जाने के परिणाम स्वरूप मैं इस घड़ी का भोक्ता हो जाऊँगा, क्योंकि मैं अब इस घड़ी का मालिक हूँ। मान लो मेरी ये घड़ी चोरी हो गयी। अगर ये घड़ी दूकान से चोरी हो जाती, तो मुझे उसका दु:ख नहीं होता। किन्तु अब दु:ख हो रहा है, क्योंकि यह मेरी घड़ी थी। मेरा अहं इसमें जुड़ गया था, इसलिये मुझे उसके परिणाम का फल भोगना पड़ेगा। तो घड़ी जैसे पहले थी, वैसे ही अभी भी है। पर उससे सम्बन्ध कहाँ से जुड़ा? कर्ताबुद्धि अहंकार से आती है। घड़ी मुझे मिलने के पहले तक मुझमें अहंबुद्धि नहीं थी कि यह मेरी घड़ी है। लेकिन घड़ी मिलने के बाद मेरा अहं जुड़ गया।

भगवान ने अर्जुन को अठारहवें अध्याय में कहा –

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

हत्त्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।। १८/१७

हे अर्जुन, जिस व्यक्ति का अहंकृत-भाव ('मैं कर्ता हूँ', ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि कहीं लिप्त नहीं होती, वह युद्ध में संसार के संपूर्ण प्राणियों को मारकर भी न मारता है और न बँधता है।

बुद्धि कैसी चिपक जाती है? जैसे आपके घर की आलमारी में आपके बहुत से जेवर, पैसे आदि रखे हुये हैं। किसी कार्यवश आप बाहर उससे कहीं दूर चले गये। तो क्या उस आलमारी से आप शरीर से जुड़े हैं? नहीं जुड़े हैं। लेकिन आपका मन उसमें लगा है। आपकी बुद्धि उसमें लिप्त है। आपकी बुद्धि को ठीक तरह से मालूम है कि आने के पहले गोदरेज की उस अलमारी का ताला अच्छी तरह से आपने बंद कर दिया है और उसकी चाबी आपके पास सुरक्षित है। यह सोचकर आप निश्चिन्त हो गये। लेकिन बुद्धि अभी भी उसमें लिप्त है। यदि अहंकार का भाव न हो और मैं और मेरा पन में उसकी बुद्धि लिप्त न हो, तो – इमान् लोकान् हत्त्वा अपि न हन्यते। ऐसा व्यक्ति दो-चार आदमियों की हत्या नहीं, संपूर्ण लोक की हत्या कर दे, तो भी वह मारता नहीं और हत्या के पाप का भागी नहीं होता। यह भाव कर्मयोग का प्राण है।

आइये, अब कर्मयोग पर संक्षेप में विचार करें। कर्मयोग का एक महान सिद्धान्त जो कर्मयोग से उसी प्रकार जुड़ा हुआ है, जैसे लाल गुलाब का लाल रंग गुलाब से। क्या आप लाल रंग को लाल गुलाब से अलग कर सकते हैं? नहीं! उसी प्रकार सकाम कर्म से पुनर्जन्म जुड़ा हुआ है।

अर्जुन हमारे-आपके प्रतिनिधि हैं। जब मोहग्रस्त अर्जुन ने भगवान से श्रेयप्राप्ति का मार्ग पूछा था, तब उन्होंने उसे बताया था कि सकाम कर्म पुनर्जन्म का कारण होता है। अर्जुन द्वारा प्रथम अध्याय में बड़ी-बड़ी ज्ञान की बातें कहने पर श्रीकृष्ण कहते हैं –

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ।। २/११

– हे अर्जुन ! शोक नहीं करने योग्य व्यक्तियों के लिये तुम शोक कर रहा है और बुद्धिमानों की तरह बात कर रहा है। किन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी पण्डित गण, ज्ञानी जन शोक नहीं करते हैं।

हे, अर्जुन तू बातें तो बड़े पंडित के समान कर रहा है, परन्तु तेरा व्यवहार तो मूर्खों की तरह है। जिसके लिये दुःख नहीं करना चाहिए, उसके लिए तू दुःख कर रहा है, रो रहा है, तेरा शरीर काँप रहा है, गांडीव तेरे हाथ से छूट रहा है और तुम 'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' ज्ञानी की तरह बात कर रहा है। भगवान अर्जुन को किसी भी प्रकार का दूसरा उपदेश देने के पहले उसे पुर्नजन्मवाद का उपदेश दे रहे हैं।

गीता के दूसरे अध्याय के बारहवें श्लोक में पुनर्जन्म का प्रतिपादन है। यद्यपि इस अध्याय का नाम सांख्ययोग है, किन्तु ज्ञानयोग के बीच भगवान कर्मयोग के रहस्य का उपदेश दे रहे हैं, जो पुनर्जन्म का कारण है –

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् (२-१२)

हे अर्जुन न तो ऐसा है कि इस महाभारत युद्ध के पहले तू नहीं था, या मैं नहीं था, या ये राजा लोग नहीं थे, और ऐसा भी नहीं होगा कि युद्ध के बाद हम सभी नहीं रहेंगे। ये सब महाभारत युद्ध के पहले भी थे। कृष्ण थे, अर्जुन थे, सब सेना के लोग थे और पांडव-कौरव सब थे। इस युद्ध में मरने के बाद भी ये सब रहेंगे। हममें से भी कुछ लोग उस समय रहे होंगे। यह पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्मयोग का आधार है। अहं-बुद्धि भोक्ता-बुद्धि के साथ जो कर्म हो रहा है, इस कर्म के कारण ही हमारा बार-बार जन्म और मरण हो रहा है। जब तक भोक्ता और कर्ता-बुद्धि पूर्णतः छूट नहीं जायेगी, तब तक मुक्ति नहीं होगी और हम जन्म-मरण के चक्र में घूमते रहेंगे।

पुर्नजन्म के संबंध में प्रायः ही लोगों को संदेह होता है। इसलिये आइये, इस पर थोड़ा विचार कर लें। जब इसकी भूमिका ठीक से समझ में आ जाएगी, तभी कर्मयोग अच्छी तरह से समझ में आयेगा और उसका जीवन में आचरण हो सकेगा और उससे हमारे जीवन का कल्याण होगा। स्वामी विवेकानन्द ने कहा, 'तुम आज जो भी हो, वह अपने पूर्व-जन्म के कर्मों के कारण हो।' क्या हमें संदेह है कि हमारा पूर्वजन्म भी था या नहीं? आप पूर्वजन्म कुछ देर के लिये छोड़ दें, इस जन्म के कुछ अनुभव और उदाहरण देखेंगे तो समझ में आ जायेगा कि ये कर्मों के परिणाम हैं कि नहीं।

कुछ लड़कियाँ बहुत अच्छी तरह कशीदा निकालना जानती हैं, कोई अच्छी पेंटिंग करना जानती हैं, कोई अच्छी मेंहदी हाथ में लगाना जानती हैं। क्या ये सब माँ के पेट से सीखकर आयी थीं? नहीं। कोई व्यक्ति किसी कर्मक्षेत्र में कुशल होता है, तो कोई किसी दूसरे में। उसने कर्म किया है, इसलिये उसमें उसको उतनी कुशलता आ गयी है। कॉलेज में भरती होकर मेडिसीन पढ़ा तो डॉक्टर हो गये। अंग्रेजी सीख लिया तभी तो अंग्रेजी भाषा आने लगी। सीखने का कर्म किया, इसलिए यह सब हुआ। इस जीवन में भी जो विद्या प्राप्त हो रही है, यह सब कर्म का परिणाम है। हमने कर्म किया, तो उस कर्म के परिणामस्वरूप वह गुण हमको प्राप्त हुआ। हम देखते हैं कि इसी जीवन में कुछ कर्मों का फल हमको मिला गया।

❖ (क्रमशः) ❖

कठोपनिषद्-भाष्य (१७)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

तृतीया वल्ली

भाष्यम् – ऋतं पिबन्तौ इति अस्या वल्ल्याः सम्बन्धः – विद्या-अविद्ये नाना विरुद्ध-फले इति उपन्यस्ते, न तु सफले ते यथावत् निर्णीते। तत्-निर्णयार्था रथ-रूपक-कल्पना, तथा च प्रतिपत्ति-सौकर्यम्। एवं च प्राप्तृ-प्राप्य-गन्तृ-गन्तव्य-विवेकार्थं रथ-रूपक-द्वारा द्वौ आत्मानौ उपन्यस्येते –

भाष्य-अनुवाद – ऋतं पिबन्तौ से आरम्भ होनेवाली इस वल्ली का पूर्वापर सम्बन्ध इस प्रकार है – कहा जा चुका है कि विद्या तथा अविद्या एक-दूसरे के भिन्न तथा विपरीत फल देनेवाली हैं; पर उनसे प्राप्त होनेवाले फलों के साथ उनका (उनके स्वभाव तथा साधनों का) अभी यथार्थ रूप से निर्धारण नहीं हुआ है। उसके निर्धारण हेतु तथा समझने की सुगमता की दृष्टि से यहाँ रथ के रूपक की योजना की गयी है। इस प्रकार यहाँ प्राप्तकर्ता तथा प्राप्तव्य और गमनकर्ता तथा गन्तव्य के रूप में दो आत्माओं का निरूपण किया गया है –

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ।। १.३.१

अन्वयार्थ – **सुकृतस्य** अपने किये हुए (पुण्य) कर्मों के **ऋतम्** सत्य, अवश्यम्भावी फल को **पिबन्तौ** भोग करनेवाले (जीवात्मा तथा परमात्मा – दोनों), **लोके** इस भोगायतन देह में, **परमे** उत्तम **पर-अर्धे** परब्रह्म के उपलब्धि-स्थान हैं; (ये दोनों) **गुहाम्** बुद्धि रूपी गुहा में **प्रविष्टौ** प्रविष्ट हैं; (उन्हें) **ब्रह्मविदः** ब्रह्मवेत्तागण **ये च** और जो लोग **पंच-अग्नयः** पाँच तरह की अग्नियों के उपासक गृहस्थगण हैं (और) **त्रिनाचिकेताः** जो लोग तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करते हैं, (वे लोग उन्हें) **छाया-आतपौ** अन्धकार और प्रकाश के समान (परस्पर विपरीत स्वभाव वाले) **वदन्ति** कहा करते हैं।

भावार्थ – अपने किये हुए (पुण्य) कर्मों के अवश्यम्भावी फल का भोग करनेवाले (जीवात्मा तथा परमात्मा – दोनों), इस भोगायतन देह में, परब्रह्म के उत्तम उपलब्धि-स्थान हैं; (वे दोनों) बुद्धि रूपी गुहा में प्रविष्ट हैं; (उन्हें) ब्रह्मवेत्तागण और जो लोग पाँच तरह की अग्नियों के उपासक गृहस्थगण है (और) जो लोग तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करते हैं, (वे लोग उन्हें) अन्धकार और प्रकाश के समान (परस्पर विपरीत स्वभाव वाले) कहा करते हैं।

भाष्यम् – ऋतं सत्यम् अवश्यम्भावित्वात् कर्मफलं पिबन्तौ; एकः तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते न इतरः, तथापि पातृ-सम्बन्धात् पिबन्तौ इति उच्येते छत्रि-न्यायेन। सुकृतस्य स्वयंकृतस्य कर्मणः ऋतम् इति पूर्वेण सम्बन्धः।

भाष्य-अनुवाद – कर्मफलों के अवश्यम्भावी होने से उन्हें ऋत अर्थात् सत्य कहा गया है। उनका पान करनेवाली दो आत्माओं में से एक पीता या भोग करता है, परन्तु दूसरा नहीं। तथापि पीनेवाले से सम्बन्ध के कारण, छत्री-न्याय* से दोनों को पीनेवाला कहा गया है। सुकृतस्य अर्थात् अपने किये हुए कर्मों का इसके पूर्व आये ऋतम् से सम्बन्ध है।

लोके अस्मिन् शरीरे, गुहां गुहायां बुद्धौ प्रविष्टौ, परमे – बाह्य-पुरुष-आकाश-संस्थान-अपेक्षया परमम्, परार्धे परस्य ब्रह्मणः अर्धं स्थानं परार्धं हार्द-आकाशम्। तस्मिन् हि परं ब्रह्म-उपलभ्यते। ततः तस्मिन् परमे परार्धे हार्द-आकाशे प्रविष्टौ इत्यर्थः।

शरीर में, बुद्धि-रूपी गुहा में प्रविष्ट होकर – बाह्य शरीर में आश्रित आकाश की अपेक्षा, परब्रह्म का स्थान होने के कारण हृदय-आकाश को परम परार्ध कहा गया है; उसी में परम ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, इसीलिये उसी परम परार्ध अर्थात् हृदय-आकाश में दोनों प्रविष्ट होकर रहते हैं।

तौ च च्छाया-तपौ इव विलक्षणौ संसारित्व - असंसारित्वेन ब्रह्मविदो वदन्ति कथयन्ति। न केवलम् अकर्मिण एव वदन्ति, पञ्चाग्नयो गृहस्थाः – ये च त्रिणाचिकेताः त्रिःकृत्वो नाचिकेतः अग्निश्चितः यैः ते त्रिणाचिकेताः ।। १/३/१ (५५) ।।

ब्रह्मवेत्तागण कहते हैं कि ये दोनों – अपने संसारित्व और असंसारित्व (निर्लिप्तता) के कारण छाया और प्रकाश के समान भिन्न हैं। न केवल सकाम कर्मों का त्याग करने वाले, बल्कि त्रिणाचिकेत – तीन बार अग्नियों का चयन करने वाले,

* **छत्रिन्याय** – राजा की सवारी निकलने पर, एक व्यक्ति उन पर छत्री लगाये रहता है। यद्यपि छत्री केवल राजा के लिये होती है, पर दर्शक साथ के व्यक्ति को भी मिलाकर कहते हैं कि छातेवाले लोग जा रहे हैं।

पंच-अग्नियों में आहुति देनेवाले गृहस्थ भी ऐसा ही कहते हैं।

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् ।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ।। १.३.२

अन्वयार्थ – यः जो विराट् रूप अग्नि **ईजानानाम्** यज्ञ करनेवाले यजमानों के लिये **सेतुः** सेतु, जो दुख-सागर से पार जाने का उपाय है, (उस) **नाचिकेतम्** नाचिकेत अग्नि को **शकेमहि** जानने तथा समझने में मैं समर्थ हुआ हूँ; (और) **अभयम् पारम्** संसार-सागर से अभय-रूपी पार **तितीर्षताम्** जाने के इच्छुक लोगों के लिये **यत्** जो **अक्षरम्** अविकारी **परम् ब्रह्म** परब्रह्म है, (उसे भी मैं जानने में समर्थ हुआ हूँ)।

भावार्थ – जो विराट् रूप अग्नि, यज्ञ करनेवाले यजमानों के लिये दुख-सागर से पार जाने का सेतु या उपाय है, मैं उस नाचिकेत अग्नि को जानने में समर्थ हुआ हूँ; और संसार-सागर से अभय-रूपी पार जाने के इच्छुक लोगों के लिये जो अविकारी परब्रह्म है, (उसे भी मैं जानने में समर्थ हुआ हूँ)।

भाष्यम् – यः सेतुः इव सेतुः ईजानानां यजमानानां कर्मिणाम्, दुःख-सन्तरणार्थत्वात् नाचिकेतः अग्निः तं वयं ज्ञातुं चेतुं च शकेमहि शक्तवन्तः ।

भाष्य-अनुवाद – जो नाचिकेत अग्नि अपने कर्ममार्गी यजमानों को सेतु के समान दुःख के पार ले जाने का साधन है, उसे हम जानने तथा चयन करने में समर्थ हैं।

किं च, यत् च अभयं भयशून्यं संसारस्य पारं तितीर्षतां तरितुम् इच्छतां ब्रह्मविदां यत्परम् आश्रयम् अक्षरम् आत्मा-आख्यं ब्रह्म, तत् च ज्ञातुं शकेमहि । परापरे ब्रह्मणी कर्म-ब्रह्मविद्-आश्रये वेदितव्ये इति वाक्यार्थः, तयोः एव हि उपन्यासः कृतः 'ऋतं पिबन्तौ' इति ।। २ (५६) ।।

इसके सिवा, जो लोग भवसागर को पार करने के इच्छुक हैं, उन ब्रह्मविदों का जो परम आश्रय – 'आत्मा' नामवाला रूपी अभय अक्षर ब्रह्म है, हम उसे भी जानने में समर्थ हैं। इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि कर्मवेत्ताओं का आश्रय पर ब्रह्म है और ब्रह्मवेत्ताओं का आश्रय अपर ब्रह्म – दोनों ही जानने योग्य हैं। ऋतं पिबन्तौ – मंत्र के द्वारा इन्हीं दोनों (आत्माओं) का निरूपण किया गया है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

कामना-वासना का त्याग –

वासनावृद्धितः कार्यं कार्यवृद्ध्या च वासना ।
वर्धते सर्वथा पुंसः संसारो न निवर्तते ।।३१३।।

अन्वय – वासना-वृद्धितः कार्यम्, कार्य-वृद्ध्या च वासना वर्धते। पुंसः संसारः सर्वथा न निवर्तते।

अर्थ – वासनाओं में वृद्धि होने से व्यक्ति के सकाम कर्मों में वृद्धि होती जाती है। सकाम कर्म बढ़ने से व्यक्ति की वासनाओं में वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार मनुष्य का जन्म-मृत्यु रूपी संसार-चक्र कभी रुकता नहीं।

संसारबन्धविच्छित्त्यै तद् द्वयं प्रदहेद्यतिः ।
वासनावृद्धिरेताभ्यां चिन्तया क्रियया बहिः।।३१४।।

अन्वय – यतिः संसार-बन्ध-विच्छित्त्यै तद् द्वयं प्रदहेत्। चिन्तया, बहिः क्रियया – एताभ्यां वासना-वृद्धिः।

अर्थ – यति अर्थात् साधक को चाहिये कि वह अपने संसार-बन्धन को काट डालने के लिये इन दोनों को जलाकर भस्म कर डाले; क्योंकि विषयों के 'चिन्तन' और सकाम 'कर्म' – इन दोनों के द्वारा वासना में वृद्धि होती है।

ताभ्यां प्रवर्धमाना सा सूते संसृतिमात्मनः ।
त्रयाणां च क्षयोपायः सर्वावस्थासु सर्वदा ।।३१५।।
सर्वत्र सर्वतः सर्वब्रह्ममात्रावलोकनैः ।
सद्भाव-वासनादार्ढ्यात्तत्त्रयं लयमश्नुते ।।३१६।।

अन्वय – ताभ्यां प्रवर्धमाना सा आत्मनः संसृतिं सूते। त्रयाणां क्षय-उपायः च सर्व-अवस्थासु सर्वदा सर्वत्र सर्वतः सर्व-ब्रह्म-मात्र-अवलोकनैः सद्भाव-वासना-दार्ढ्यात् तत् त्रयं लयं अश्नुते।

अर्थ – (विषय-चिन्तन एवं सकाम कर्म) इन दोनों के द्वारा बढ़ती हुई वह 'वासना' जीव के संसार-बन्ध का कारण बनती हैं। इन तीनों के नाश का उपाय है – सभी अवस्थाओं में, सदैव, सर्वत्र, सभी प्रकार से हर (वस्तु तथा व्यक्ति) को ब्रह्ममात्र-दर्शन करते हुए सत् अर्थात् ब्रह्म-स्वरूप की वासना को सुदृढ़ करना – इससे ये तीनों लय को प्राप्त होते हैं।

क्रियानाशे भवेच्चिन्तानाशोऽस्माद्वासनाक्षयः ।
वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते ।।३१७।।

अन्वय – क्रिया-नाशे चिन्ता-नाशः भवेत्, अस्मात् वासना-प्रक्षयः मोक्षः, सा जीवन्मुक्तिः इष्यते।

अर्थ – सकाम कर्मों का नाश होने पर विषय-चिन्तन का नाश होता है, इसके फलस्वरूप वासना-क्षय होता है और वासना का अत्यन्त अभाव ही 'मोक्ष' कहलाता है और उसी को 'जीवन्मुक्ति' भी कहते हैं।

सद्वासनास्फूर्तिविजृम्भणे सति
ह्यसौ विलीनाप्यहमादिवासना ।
अतिप्रकृष्टाप्यरुणप्रभायां
विलीयते साधु यथा तमिस्रा ।।३१८।।

अन्वय – सद्-वासना-स्फूर्ति-विजृम्भणे सति असौ अहम्-आदि-वासना अपि विलीना यथा तमिस्रा अति-प्रकृष्टा अपि अरुण-प्रभायां साधु विलीयते।

अर्थ – ब्रह्म-साक्षात्कार की सद्-वासना के विशेष रूप से प्रकट हो जाने पर, मैं-मेरा आदि (तथा उससे सम्बद्ध) वासनाएँ उसी प्रकार सहज भाव से विलुप्त हो जाती हैं, जैसे कि रात का घोर अन्धकार भी उदीयमान प्रात:कालीन सूर्य के देदिप्यमान प्रकाश से सहज ही विलीन हो जाता है।

तमस्तमःकार्यमनर्थजालं
न दृश्यते सत्युदिते दिनेशे ।
तथाऽद्वयानन्दरसानुभूतौ
न वास्ति बन्धो न च दुःखगन्धः।।३१९।।

अन्वय – दिनेशे उदिते सति तमः तमः-कार्यम् अनर्थ-जालम् न दृश्यते, तथा अद्वय-आनन्द-रसानुभूतौ, न बन्धः एव अस्ति न च दुःखगन्धः ।

अर्थ – जैसे सूर्य का उदय हो जाने पर अन्धकार तथा उसके फलस्वरूप होनेवाले नाना प्रकार के अनर्थों का समूह दिखायी नहीं देता, वैसे ही अद्वय (ब्रह्म-जीव-ऐक्य) के आनन्द-रस की अनुभूति हो जाने पर, न कोई बन्धन रह जाता है और न किसी दु:ख का लेशमात्र ही रह जाता है।

दृश्यं प्रतीतं प्रविलापयन् सन्
सन्मात्रमानन्दघनं विभावयन् ।
समाहितः सन् बहिरन्तरं वा
कालं नयेथाः सति कर्मबन्धे ।।३२०।।

अन्वय – बहिः वा अन्तरं प्रतीतं दृश्यं प्रविलापयन् सन्, आनन्दघनं सन्मात्रं विभावयन् समाहितः सन्, कर्मबन्धे सति, कालं नयेथाः ।

अर्थ – बाह्य तथा आन्तरिक दृश्य-प्रपंच का पूर्ण रूप से विलोप करते हुए, अस्ति मात्र आनन्दघन ब्रह्म का ध्यान करते हुए, प्रारब्ध कर्मों के समाप्त होने तक सावधानीपूर्वक काल यापन करना चाहिये।

प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यः कदाचन ।
प्रमादो मृत्युरित्याह भगवान्ब्रह्मणः सुतः ।।३२१।।

अन्वय – ब्रह्मनिष्ठायां कदाचन प्रमादः न कर्तव्यः । प्रमादः मृत्युः – इति ब्रह्मणः सुतः भगवान् आह ।

अर्थ – ब्रह्मनिष्ठा में कभी भी प्रमाद (असावधानी) नहीं करना चाहिये। ब्रह्माजी के पुत्र भगवान सनत्कुमार ने (महाभारत में) प्रमाद को मृत्यु कहा है।

न प्रमादादनर्थोऽन्यो ज्ञानिनः स्वस्वरूपतः ।
ततो मोहस्ततोऽहंधीस्ततो बन्धस्ततो व्यथा ।।३२२।।

अन्वय – ज्ञानिनः स्व-स्वरूपतः प्रमादात् अन्यः अनर्थः न, ततः मोहः ततः अहं-धीः ततः बन्धः ततः व्यथा ।

अर्थ – (साधक के लिये) अपने स्वरूप के अनुसन्धान में प्रमाद से बढ़कर अन्य कोई भी अनर्थकारी (विपत्ति) नहीं है; क्योंकि प्रमाद से ही मोह होता है, मोह से अहंकार, अहं से बन्धन और बन्धन के कारण अपार दु:ख सहना पड़ता है।

विषयाभिमुखं दृष्ट्वा विद्वांसमपि विस्मृतिः ।
विक्षेपयति धीदोषैर्योषा जारमिव प्रियम् ।।३२३।।

अन्वय – योषा प्रियम् जारम् इव विद्वांसं अपि विषयाभिमुखं दृष्ट्वा विस्मृतिः धीदोषैः विक्षेपयति ।

अर्थ – जैसे कुलटा नारी अपने प्रिय उपपति को विचलित कर देती है, वैसे ही स्वरूप-विस्मृति भी विद्वान् साधक को भोग्य विषयों की ओर उन्मुख देखकर बुद्धि को दूषित करके उसे विचलित कर देती है।

यथापकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति ।
आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम् ।।३२४

अन्वय – यथा अपकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति, तथा माया प्राज्ञम् अपि पराङ्मुखम् वा आवृणोति ।

अर्थ – जैसे पानी के ऊपर से हटाया गया शैवाल क्षण मात्र भी अलग नहीं रहता (छोड़ते ही तत्काल उसे फिर ढक लेता है), वैसे ही माया भी ज्ञानी के आत्मचिन्तन से विमुख होते ही उसे आच्छन्न कर लेती है।

लक्ष्यच्युतं चेद्यदि चित्तमीषद्
बहिर्मुखं सन्निपतेत्ततस्ततः ।
प्रमादतः प्रच्युतकेलिकन्दुकः
सोपानपङ्क्तौ पतितो यथा तथा ।।३२५।।

अन्वय – यथा प्रमादतः प्रच्युत-केलि-कन्दुकः सोपान-पङ्क्तौ पतितः ततः ततः सन्निपतेत् तथा चेद् यदि चित्तं ईषत् लक्ष्यच्युतं बहिर्मुखम् (ततः ततः सन्निपतेत्) ।

अर्थ – जैसे खेलने की गेंद यदि असावधानीवश सीढ़ियों पर गिरकर स्वत: नीचे-नीचे गिरती चली जाती है, वैसे ही यदि साधक का चित्त (ब्रह्मरूपी) लक्ष्य से जरा-सा भी बहिर्मुख हुआ, तो क्रमश: पतित होता चला जाता है।

विषयेष्वाविशच्चेतः संकल्पयति तद्गुणान् ।
सम्यक्संकल्पनात्कामः कामात्पुंसः प्रवर्तनम् ।।३२६।।

अन्वय – विषयेषु चेतः आविशत् तद्गुणान् संकल्पयति । सम्यक्-संकल्पनात् कामः, कामात् पुंसः प्रवर्तनम् ।

अर्थ – मन, भोग्य विषयों में प्रविष्ट होकर उनके गुणों का चिन्तन करता रहता है; इस सम्यक् चिन्तन के फलस्वरूप उनके लिये कामना उत्पन्न होती है और कामना के फलस्वरूप व्यक्ति प्रवृत्ति – उसे प्राप्त करने की चेष्टा में लग जाता है।

❖ (क्रमशः) ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२१५. परपीड़न में – निज पीड़ा है

बालक पिप्पलाद ने जब माता के मुख से यह सुना कि देवताओं ने उसके पिता महर्षि दधीचि को अपनी अस्थियाँ देने के लिए विवश किया था और इन्द्र ने उनसे वज्र बनाकर उससे वृत्रासुर का वध किया, तब उसे देवताओं पर गुस्सा आया। उसने देवताओं से बदला लेने का निश्चय किया और भगवान शंकर को प्रसन्न करने हेतु घोर तपस्या की। भगवान आशुतोष ने जब प्रसन्न होने पर वर माँगने को कहा, तो उसने उनसे तीसरा नेत्र खोलकर देवताओं को भस्म करने की इच्छा व्यक्त की। यह सुनते ही महादेव को मन-ही-मन हँसी आई। उन्होंने पिप्पलाद से कहा, "वत्स, तुम अभी बालक हो। मेरे तीसरे नेत्र के तेज का तुम अनुमान नहीं लगा सकते। अबोध होने के ही कारण मैं तुम्हारे समक्ष सौम्य रूप में प्रकट हुआ हूँ। मेरे तीसरे नेत्र का तेज इतना प्रखर एवं तीव्र है कि देवता ही नहीं, तुम्हारे सहित समूचा विश्व ही भस्म हो जाएगा। जब तुम ही देवताओं का संहार देखने के लिये जीवित न रहोगे, तुम्हारे प्रतिशोध की सार्थकता ही कहाँ रही।

पिप्पलाद बोले, "भगवन, आप देवताओं का पक्ष लेकर मुझे वर से वंचित कर रहे हैं। मैं अपनी इच्छा से जरा भी विचलित नहीं होऊँगा। मैं उस पर अडिग हूँ।" शंकरजी ने कहा, "वत्स, मैं तुम्हें एक मौका और देना चाहता हूँ। तुम्हें मेरे रौद्र रूप और तेज की कल्पना नहीं है, इसीलिये तुम मुझे स्वार्थी कह रहे हो। जब तक तुम्हें मेरे तेज की प्रतीति नहीं होती, तुम पूर्वाग्रह से ग्रस्त रहोगे।" उनके ये शब्द समाप्त भी नहीं हुए थे कि सहसा पिप्पलाद को महादेव का अस्पष्ट-सा भयंकर रूप दिखाई दिया। उनके तृतीय नेत्र से हलका-सा तेज निकला। उन्हें लगा कि उनका रोम-रोम जलने लगा है। उन्हें भय हुआ कि शीघ्र ही उनकी चेतना लुप्त होने वाली है। जब उनकी पीड़ा असह्य हो गई, तो वे कातर स्वर में चिल्ला उठे, "बस-बस भगवन्, आप अपने पूर्वरूप में आ जाइये। मेरे सारे शरीर में असह्य जलन हो रही है।" इतने में महादेव उसे पुन: सौम्य रूप में दिखाई दिये। उसने कहा, "मैंने आपसे देवताओं को भस्म करने की प्रार्थना की थी, पर आप तो अपने तृतीय नेत्र की ज्वाला का मुझ पर ही प्रयोग कर रहे थे।" शिवजी बोले, "मैंने तुमसे पहले ही कहा था कि मेरे तेज का असर पूरी सृष्टि पर होगा, तो भला तुम कैसे बच सकते थे! तुम इस बात का ध्यान रखो कि दूसरे का अनिष्ट चाहनेवाले का कभी अपना हित नहीं होता; दूसरे के साथ-साथ उसका भी अनिष्ट होता है। अत: मनुष्य को सर्वदा दूसरों के हित की ही बात सोचनी चाहिए।"

२१६. पद का लोभ न कीजिये

घटना १९३७ ई. की है। कांग्रेस के चुनाव होनेवाले थे और अध्यक्ष पद के लिये पं. जवाहरलाल नेहरू का नाम लिया जा रहा था। नेतागण सर्वसम्मति से उनके चुनाव के प्रयास में लगे थे, किन्तु नेहरूजी इसके लिए सहमत न थे। उनका कहना था कि वे इस पद पर पिछले दो वर्षों से आसीन थे; इस बार वे किसी अन्य व्यक्ति को अवसर देना चाहते हैं, परन्तु उनकी बात अनसुनी की जा रही थी।

तभी कलकत्ते से प्रकाशित होनेवाली अंग्रेजी मासिक 'मॉडर्न रिव्यू' में किसी 'चाणक्य' नामक लेखक का एक आलोचनात्मक लेख छपा, जिसमें इस बात का जिक्र था कि पण्डित नेहरू पदलोलुप हैं। वे दो वर्षों से इस पद पर हैं, लेकिन उनका पदमोह अभी भी बना हुआ है। इसी कारण वे इस बार भी इस पद पर बने रहना चाहते हैं। कांग्रेसी नेताओं को चाहिए कि किसी दूसरे व्यक्ति को अध्यक्ष बनाएँ।

नेहरूजी के प्रेमियों ने जब यह लेख पढ़ा, तो उन्हें क्रोध आ गया। उन्होंने पत्रिका के सम्पादक के खिलाफ आन्दोलन करने का निश्चय किया। किन्तु आन्दोलन के दौरान लोग कोई गलत कदम न उठाएँ – इस भय से उन्होंने सम्पादक से मिलना उचित समझा। तदनुसार एक प्रतिनिधि-मण्डल सम्पादक से मिला और उन लोगों ने उन्हें खूब खरी-खोटी सुनाई।

सम्पादक ने शान्त चित्त से सब सुना और लोगों से पूछा, "क्या आप जानते हैं कि इसके लेखक 'चाणक्य' कौन हैं?" फिर उन्होंने स्वयं ही बताया – ये 'चाणक्य' और कोई नहीं, स्वयं जवाहरलाल जी ही हैं। उन्हीं ने फोन पर इस लेख को छापने का आग्रह किया था। वे इस पद को तीसरी बार नहीं ग्रहण करना चाहते थे। उनका कहना है कि सामाजिक काम करनेवाले को पद के लिये लालायित नहीं रहना चाहिए, बल्कि आलोचना सुनने के लिए भी अपना मन बनाना चाहिए। फिर यह तो प्रतिष्ठित पद है। पदलिप्सा मनुष्य को अहंकारी बना देती है। अहंकार से स्वेच्छाचार बढ़ता है और व्यक्ति स्वार्थी हो जाता है। सामाजिक कार्यकर्ता को प्रशंसा के बजाय कटूक्तियाँ सुनने के लिये तैयार रहना चाहिए। इससे वह कई दोषों से मुक्त रह सकता है।"

रामकृष्ण मठ, अलसूर (कर्नाटक)

द्वारा ८ से १६ जुलाई, २०११ के दौरान १६३ विद्यालयों के १५१३० विद्यार्थियों के बीच १५१३० नोटबुक्स, ३००० डिक्शनरियाँ, १७०० स्लेट, २००० कम्पास बॉक्स, १४००० पेंसिलें, १४००० रबर तथा शार्पनर और १२००० पेन आदि वस्तुयें वितरित की गयीं।

श्रीलंका में बहुधन्धी प्रशिक्षण केन्द्र

श्रीरामकृष्ण मिशन, कोलम्बो के आर्थिक सहयोग से वोकेशनल ट्रेनिंग सेन्टर का उद्घाटन कृष्णपुरम् और किलिनोची में किया गया। यह प्रशिक्षण मुख्य रूप से रोजगार-विहीन लड़कियों और विधवाओं को सक्षम एवं आर्थिक रूप से आत्म -निर्भर बनाने के लिये है। सेंटर उन्हें रोजगार पाने तथा अपना रोजगार प्रारम्भ करने हेतु आवास भी उपलब्ध कराता है।

रामकृष्ण मिशन, मारीशस ने

वाकोस नगर में ५ जून, २०११ को २०वाँ इन्टर कॉलेज स्तरीय आवृत्ति तथा व्याख्यान प्रतियोगिता का आयोजन किया। इसमें पूरे देश से ४२ कॉलेजों के ५४२ छात्रों ने भाग लिया। विजेताओं को पुरस्कार और प्रमाणपत्र प्रदान किये गये। इस प्रतियोगिता से विभिन्न धर्मावलम्बी बच्चों ने श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द जी के उपदेशों से शिक्षा प्राप्त की।

आश्रम-छात्रावास के छात्रों को गोल्ड मेडल

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर छात्रावास के राजेश राठौर को एम.काम. में प्रथम आने के लिये उन्हें गोल्ड मेडल प्रदान किया गया। दूसरे छात्र धनीराम राठौर को बी.एस.सी में सामाजिक सेवा के क्षेत्र में गोल्ड प्रदान किया गया।

छत्तीसगढ़ में विविध कार्यक्रम आयोजित किये गये

स्वामीजी की १५०वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में २ अक्तूबर, २०११ को रायपुर के रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम में भक्त-शिविर का आयोजन किया गया। इसका निर्देशन आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने किया और भक्तों के आध्यात्मिक जीवन जीने के कुछ सरल सुझाव दिये। स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी का आध्यात्मिक प्रवचन तथा स्वामी स्थिरानन्द जी के द्वारा श्रीरामकृष्ण-वचनामृत का सरस पाठ किया गया। आश्रम-छात्रावास के बच्चों ने भक्तिगीत प्रस्तुत किये।

विवेकानन्द सेवा समिति, लखौली

विवेकानन्द सेवा समिति, लखौली और रामकृष्ण मिशन, रायपुर के संयुक्त तत्त्वावधान में संचालित हो रहे 'गदाधर अभ्युदय प्रकल्प' के तहत लखौली ग्राम में १० से १२ अक्तूबर तक जन-चेतना जागरण हेतु छत्तीसगढ़ राज्य-स्तरीय जसगीत एवं झाँकी प्रतियोगिता कार्यक्रम आयोजित किये गये। जिसमें ३० मंडलियों ने भाग लिया। १२ अक्तूबर, २०११ को विजेताओं को पुरस्कार वितरण छत्तीसगढ़ के कृषिमंत्री श्री चन्द्रशेखर साहू और रामकृष्ण मिशन, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द तथा स्वामी देवभावानन्द द्वारा सम्पन्न हुआ। स्थानीय कलाकारों ने रामचरितमानस का गान किया तथा गदाधर अभ्युदय प्रकल्प की छात्राओं ने छत्तीसगढ़ी नृत्य प्रस्तुत किया। समिति के सचिव ब्रह्मचारी नन्दकुमार जी ने आगत अतिथियों तथा कलाकारों की सुव्यवस्था की।

विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा, रायपुर

में ११ अक्टूबर, २०११ को 'शिक्षा की चुनौतियाँ और स्वामी विवेकानन्द' विषय पर व्याख्यान हुये। कार्यक्रम के मुख्य अतिथि थे रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष स्वामी निखिलात्मानन्द जी और अध्यक्षता रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने की थी।

छत्तीसगढ़ में राज्योत्सव

छत्तीसगढ़ राज्य के ११ वें स्थापना-दिवस के उपलक्ष्य में १ से ७ नवम्बर २०११ तक राज्योत्सव मनाया गया। यह प्रदेश के हर जिला-शहर में धूमधाम से मनाया जाता है। इसमें राष्ट्रीय स्तर के बहुत से कलाकार आते हैं। इस मेले में राज्य के हर क्षेत्र में हुई विकास-सम्बन्धी प्रदर्शनियाँ लगायी जाती हैं तथा सभी जनोपयोगी चीजों का विक्रय भी होता है। बच्चों से लेकर वयोवृद्ध तक – सबके मनोरंजन के साधन उपलब्ध रहते हैं। राज्य की अधिकांश जनता बड़े उत्साह के साथ इस मेले में भाग लेती है। उद्घाटन के अवसर पर राज्य के मुख्यमंत्री, राज्यपाल, अन्य मंत्री तथा पदाधिकारी उपस्थित रहते हैं। मेले के अन्तिम दिन रात में बड़ी ही आकर्षक अतिशबाजी होती है, जिसे देखकर सभी लोग प्रसन्नता के साथ अगले वर्ष की आशा सजोये अपने-अपने घरों को वापस लौटते हैं। ❑❑❑